प्रकाशक

गयाप्रसाद एंड संस,

आगरा।

प्रथम संस्करण : नवंबर १९४०

द्वितीय संस्करण : जनवरी १९४४

तृतीय संस्करण : जून १९४६

मुद्रक—जगदीशप्रसाद

दी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

लेखकों की हिंदी-सेवा के सम्बन्ध में अभी तक किसी पुस्तक में इस ढंग से विचार नहीं किया गया है। यदि विद्यार्थियों को प्रमुख साहित्य-सेवियों की हिंदी-सेवा का आरंभ में ही ज्ञान करा दिया जाय तो भविष्य में ये उन लेखकों का साहित्य में स्थान विशेष सुविधा से समझ सकेंगे और उनका सम्मान करना भी सीखेंगे। —११-११-४२

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

प्रस्तुत पुस्तक इंटरमीडिएट तथा समकक्ष परीक्षाओं के छात्रों की आवश्यकता सामने रख कर लिखी गई थी। हर्ष है कि राजपूताना, मद्रास और संयुक्तप्रांत के शिक्षाधिकारियों ने विभिन्न परीक्षाओं के लिए इसे स्वीकार किया है। अपने इस संशोधित रूप में, मुझे विश्वास है, परीक्षार्थियों को यह और उपयोगी सिद्ध होगी।

'हिंदी गद्य का विकास' इस बार अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से लिखा गया है। इससे बी० ए० के विद्यार्थी भी पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। —१ जनवरी, १९४४

तृतीय संस्करण के सम्बन्ध में

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक विद्यार्थियों ने तो पुस्तक को अपनाया ही है। बी० ए० के छात्र भी इससे लाभ उठाते हैं। अपने इस संशोधित रूप में, मुझे विश्वास है, यह और भी उपयोगी सिद्ध होगी।

रानीकटरा, लखनऊ }
१ जून, १९४६ }

प्रे० ना० टंडन

विषय-सूची

हमारे गद्य-निर्माता

शैली

जब हम अपने किसी मित्र को दूर पर आता हुआ देखते हैं तब फौरन हमारे मुँह से निकल पड़ता है—लीजिए, अमुक तो आ गए। इसी प्रकार जिस लेखक या कवि का हमने अध्ययन किया है, मित्र की तरह बहुत दिनों तक जिसकी कृतियों के साथ रहे हैं उसका एक वाक्य अथवा छन्द सुनते ही हमारे मुँह से निकल पड़ेगा—यह वाक्य या छन्द तो अमुक लेखक अथवा कवि का हो सकता है।

परिचय

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस लेखक या कवि की सब रचनाओं को हमने कंठाग्र कर लिया है और सुनते ही भूली बात की तरह हमें कहा हुआ वाक्य या छंद याद आ जाता है। वास्तव में बात यह है कि जिस तरह हम अपने मित्र की चाल-ढाल, तर्ज-तरीका देख कर उसे पहचान लेते हैं, उसी प्रकार वाक्य या छंद सुनकर अपने प्रिय लेखक या कवि को। यह बात यों भी समझाई जा सकती है:—

हम अपने कमरे में बैठे हुए हैं। घर के बाहर से किसी ने आवाज दी और हमारे मुँह से निकल पड़ा—आओ भाई, बहुत दिन बाद आए; अथवा आओ, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर ही रहा था। आशय यह कि हम अपने मित्रों, पड़ौसियों अथवा सम्बन्धियों की केवल आवाज सुन कर ही—चाहे हम उन्हें देख न भी सकें—पहचान जाते हैं कि कौन बोल रहा है। इसी प्रकार वाक्य या छन्द—शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास तथा उसका ढंग—लेखक की वाणी के समान है। इस वाणी को—उसके कहने की रीति को—बार-बार सुनते-सुनते हम उससे परिचित हो जाते हैं और इसीलिए एक ही वाक्य या छंद सुनकर कह सकते हैं—यह तो अमुक लेखक या कवि का है। यह कहना हमारे लिए तभी

सरल हो सकता है जब हम उसके कहने—लिखने—के ढंग से भली-भाँति परिचित हों। सीधे-साधे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लेखक के लिखने या अपने भाव प्रकट करने का ढंग ही उसकी शैली है और प्रत्येक लेखक अथवा कवि की रचनाओं का भली-भाँति अध्ययन करने पर हम यह इसी प्रकार आसानी से बता देंगे कि यह शैली तो अमुक लेखक या कवि की है जिस प्रकार अपने मित्र अथवा परिचित व्यक्ति की चाल देखकर या केवल आवाज सुनकर ही उसका नाम बता सकते हैं।

शैली की नकल

प्रायः हम देखते हैं कि हमारा एक मित्र दूसरे की सुन्दर आवाज या चाल-ढाल की नकल करता है और कभी-कभी अपने इस प्रयत्न में थोड़ा-बहुत सफल भी हो जाता है। तब हम कह उठते हैं—यह तो वैसी ही आवाज या चाल है। परन्तु वह जिसकी नकल करता है ठीक उसी की तरह चलने या बोलने में सफल नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव, विचार, आदर्श, भाव एक दूसरे से अलग होते हैं और जब वह बात करता है तब इनका उसके कहने के ढंग पर प्रभाव पड़ता है। फलतः एक व्यक्ति के कहने या बोलने का ढंग दूसरे से भिन्न रहता है; क्योंकि कहने या बोलने के ढंग पर उसके निजी व्यक्तित्व—व्यक्ति की निजी बातों-जैसे कल्पना, अनुभूति, आदर्श आदि—का प्रभाव पड़ता है।

ठीक यही बात शैली के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। लेखक या कवि की अनुभूति और कल्पना, अनुभव और आदर्श विचार और भाव—एक शब्द में, उनके व्यक्तित्व—परस्पर भिन्न रहते हैं। एक लेखक या कवि जब कुछ लिखने बैठता है तब उसके निजी व्यक्तित्व का उसके ढंग पर प्रभाव पड़ता है। यही बात सभी लेखकों के लिए सत्य है। अतः जब सभी लेखकों और कवियों का व्यक्तित्व अलग-अलग होगा तब सभी के लिखने के ढंग भी भिन्न-भिन्न होंगे। प्रश्न हो सकता है—क्या एक लेखक दूसरे के लिखने के ढंग अर्थात् उसकी शैली की नकल कर सकता है? उत्तर होगा—प्रयत्न करने का सबको अधिकार है और यदि नकल करने वाले का व्यक्तित्व जिस लेखक अथवा कवि

की शैली का वह नकल करना चाहता है, उसी की तरह का होगा—यद्यपि ऐसा होता बहुत कम है—तब तो उसे थोड़ी बहुत सफलता मिल जायगी जैसी वाणी या चाल-ढाल की नकल करने को मिल जाती है; परन्तु साधारणतः देखने में आता है कि सभी लेखकों के विचार, भाव, आदर्श तथा अध्ययन आदि समान नहीं होते, वैसे ही, यदि शैली की नकल करने वाले का व्यक्तित्व, जिसकी शैली की नकल करने का वह प्रयत्न कर रहा है उससे भिन्न है, तब सफलता की आशा बिल्कुल नहीं की जा सकती। इसलिए भावों और विचारों को प्रकट करने की प्रणाली में जो नवीनता अथवा भिन्नता अपने व्यक्तित्व की छाप अथवा प्रभाव के कारण आती है, वही लेखक की शैली की विशेषता कहलाती है।

भाषा से सम्बन्ध

प्रत्येक मनुष्य के पास कुछ विचार होते हैं। वह उनको व्यक्त करने—लिखने या कहने—का प्रयत्न भी करता है। ऐसा करते समय उसकी यह हार्दिक अभिलाषा रहती है और इसके लिए वह शक्तिभर प्रयत्नशील भी रहता है कि उसकी कल्पना और अनुभूति, उसके विचार और भाव, इस तरह व्यक्त किए जायँ कि पढ़ने या सुनने वालों पर उसका अधिक से अधिक प्रभाव पड़े। इस कार्य के लिए लेखक को भाषा की आवश्यकता पड़ती है। भाषा सार्थक शब्दों का ऐसा समूह है जो हमारे विचारों को दूसरों तक और दूसरों के विचारों को हम तक पहुँचाता है। परन्तु शब्द सार्थक होते हुए भी उस समय तक शक्तिहीन ही रहते हैं जब तक वे विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने के लिए वाक्यों में सजाए नहीं जाते। अतः एक ओर तो शब्दों के प्रयोग का प्रश्न आता है और दूसरी ओर उनका इस ढंग से प्रयोग करने का कि वे विशेष रूप से अपना प्रभाव डाल सकें। दूसरे शब्दों में, एक ओर तो शब्द विशेष महत्व के हैं और दूसरी ओर वाक्य-विन्यास अर्थात् शब्दों को प्रभावोत्पादक ढंग से सजाना। अपने भावों को प्रकट करने का कार्य यों तो इन दोनों की सहायता से होता है, तो भी प्रधानता वाक्य-विन्यास की ही रहती है। अतः सुविधा के लिए लेखन-शैली के दो रूप किए जा सकते हैं—

(१) वाक्य-विन्यास अथवा भाव-प्रकाशन-शैली।

(२) शब्द-योजना अथवा भाषा शैली।

हम देख चुके हैं कि शैली अपने विचारों को प्रकट करने का ऐसा निजी ढंग है जो व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण एक दूसरे से भिन्न रहता है। यदि एक लेखक विद्वान् होते हुए भी आलस्य अथवा अन्य किसी कारण से अव्यवस्था-प्रिय बन गया है तो पाठक चाहे उसकी बुद्धि की प्रशंसा करें, परन्तु अव्यवस्था उन्हें अप्रिय अवश्य लगेगी। इस प्रकार यदि हमारा लेखक विद्वान न होते हुए भी अपने को विद्वान प्रदर्शित करना चाहता है, तो आरंभ में उसके विचार अपरिपक्व होंगे और शैली अपरिमार्जित रहेगी। हाँ, ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान बढ़ता जायगा और वह लिखने का अभ्यास करता रहेगा, त्यों-त्यों उसके विचार स्पष्ट और प्रौढ़ होते जायँगे तथा शैली सुलझी हुई और संयत होती जायगी।

लेखक की शैली पर सबसे पहले उसकी रुचि, उद्देश्य और आदर्श का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, एक लेखक की रुचि विषय को अत्यन्त सरल ढंग से व्यक्त करने की है और उसका उद्देश्य तथा आदर्श है साधारण से साधारण योग्यता के पाठकों को विषय भली-भाँति समझा देना। तब वह (पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी जैसा लेखक) सरल वाक्यों का प्रयोग करके, एक ही बात बार-बार, दूसरे-दूसरे शब्दों में दोहराकर, सरल भाषा में इस ढंग से लिखेगा कि सभी पाठक बिना प्रयास उसकी बात समझ लें। यदि (द्विवेदीजी की भाँति ही) उस सरलता-प्रिय लेखक का उद्देश्य किसी आदर्श या विचार-विशेष का प्रचार करना अथवा भूले-भटके व्यक्तियों को उनका कर्त्तव्य सुझाना है तब वह सरल भाषा में उपदेशात्मक और आदेशात्मक ढंग से काम लेगा। यदि इस पर भी लोग उसके कथन पर ध्यान न देंगे, या कभी-कभी उसका विरोध करेंगे और लेखक अपनी दृष्टि में ठीक रास्ते पर है, तब वह कभी व्यंग और कटाक्ष से काम लेगा, कभी जोश में आकर उन्हें फटकारने लगेगा, कभी ओज-पूर्ण शैली में अपने

भाव-प्रकाशन शैली

विचार व्यक्त करेगा अथवा, यदि भाग्यवादी हुआ तो ईश्वर की दुहाई देता रह जायगा जिसे कुछ लोग 'प्रलाप' के नाम से पुकारेंगे।

दूसरा लेखक (पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल की तरह) गम्भीर विचार का है, उसका अध्ययन भी गम्भीर है और दैनिक जीवन में भी वह प्रायः गम्भीर ही रहता है तब विचारों को प्रकट करने का ढंग भी गंभीर ही होगा। यदि उसका उद्देश्य अपने विचारों को प्रकट करना अथवा विषय की विवेचना करना मात्र है—साधारण पाठक कुछ लाभ उठा सकेंगे या नहीं, इसकी वह चिन्ता नहीं करता—तो उसकी शैली भी क्लिष्ट और गंभीर होगी कि एक-आध पृष्ठ पढ़कर ही साधारण पाठक का दिमाग चकरा जायगा। हाँ, जो लोग पढ़े-लिखे और विद्वान् होंगे वे अवश्य उसकी पुस्तकों से लाभ उठाकर उसकी विद्वत्ता की सराहना करेंगे।

यदि लेखक (स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की तरह) बड़ा हँसमुख है तो उसकी शैली में उसके स्वभाव की इस विशेषता के दर्शन भी स्पष्ट होंगे। साथ ही, गंभीर अध्ययन होने पर उसकी गंभीर शैली में हास्य का ऐसा मिश्रण मिलेगा (उदाहरण के लिए पंडित पद्मसिंह शर्मा की शैली की ओर संकेत किया जा सकता है) जो पाठकों को विशेष रुचिकर होगा। यही हास्य अत्यन्त संयत, नियमित और शिष्ट होने पर कभी-कभी व्यंग और कटाक्ष के रूप में दिखाई देता है। पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल की शैली में इसके उदाहरण मिलते हैं।

कभी-कभी भाव-प्रकाशन-शैली में विषय के अनुसार भी परिवर्तन होता है। इतिहास, तीर्थयात्रा जैसे विषय वर्णन की प्रधानता होने के कारण, सरल ढंग से, केवल परिचय कराने के लिए, लिखे जाते हैं। इसके विपरीत, सत्य, जीवन, धर्म, प्रेम, करुणा, आलोचना आदि गंभीर विचारात्मक विचारों के विवेचन के लिए प्रायः गंभीर शैली ही अपनानी पड़ती है। अपने दैनिक जीवन में भी हम प्रायः यह बात देखते हैं कि जब हम साधारण विषय पर वार्त्तालाप करते हैं तब गंभीर होने की आवश्यकता नहीं समझते; परन्तु गंभीर प्रश्न छिड़ने पर फौरन कह बैठते हैं—अच्छा, अब हँसी हो चुकी, गंभीर होकर काम की बातें

करो। यही बात गंभीर विषयों का विवेचन करते समय लेखक भी अपने मन में कहता है।

भाव-प्रकाशन-शैली पर समय की परिस्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। 'साहित्यालोचन' के लेखक का कहना है कि किसी निर्दिष्ट काल का कोई ग्रन्थकार या कवि उस काल की विशेषता के कारण अपने भावों या विचारों को उस काल की प्रकृति या परिस्थिति के प्रभाव से अछूता नहीं रख सकता। इस दशा में उन विचारों या भावों के व्यक्तीकरण के ढंग, उसकी शैली को भी उससे प्रभावित होना और अपना रूप बदलना ही पड़ता है। जैसे किसी कवि की कृति की अंतरात्मा पर, चाहे उस पर उसकी व्यक्तिगत सत्ता की छाप कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो, उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, वैसे ही उसकी रचना का बाहरी रूप भी उसके प्रभाव से बच नहीं सकता। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए हम उदाहरणवत् लल्लूलाल और हरिचन्द्र के गद्य को उपस्थित कर सकते हैं। इन दोनों की गद्य-शैली में बड़ा अन्तर है। यह सच है कि लल्लूलाल ने ब्रज-भाषा के पद्य और ब्रजमंडल की बोली का सहारा लेकर गद्य लिखने प्रयत्न किया है और हरिश्चन्द्र को लल्लूलाल के पीछे के और अपने से ७०-८० वर्ष पहले के गद्य के विकसित रूप का सहारा मिला है, पर यहाँ हमारा उद्देश्य उन कारणों पर विचार करना नहीं है जिनसे उन दोनों के गद्य में इतना अन्तर हो गया है, हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दोनों की गद्य-शैली ने किस तरह भिन्न-भिन्न रूप धारण किए। लल्लूलाल की कृति बहुत पहले की है, उस पर कविता का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। उस समय तो वह अपना रूप स्थिर करने में लगी हुई थी, पर हरिश्चन्द्र के समय में उस रूप में कुछ-कुछ स्थिरता आ गई थी। वह परिमार्जित हो चली थी, उसमें प्रौढ़ता और शक्ति-सम्पन्नता के चिह्न दिखाई देने लगे थे; वह भाव-व्यंजना में अधिक समर्थ हो चली थी। उसी रूप से अनुप्राणित और

भाव-प्रकाशन-शैली पर पड़ने वाले प्रभाव

प्रभावान्वित होकर हरिश्चंद्र ने गद्य-लेखन की उस शैली की अवतारणा की है जिसे हम उनकी पुस्तकों में पाते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक लेखक की शैली पर निजी रुचि, स्वभाव उद्देश्य और आदर्श का प्रभाव तो एक ओर पड़ता है और परिस्थिति तथा विषय का बाहरी प्रभाव दूसरी ओर। अतः किसी लेखक की शैली का अध्ययन करने के पूर्व हमें निम्नलिखित बातों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए—

(१) परिस्थिति अथवा समय जब उसने ग्रंथ-रचना आरम्भ की।

(२) रुचि, स्वभाव, उद्देश्य और आदर्श। इन पर परिस्थिति और संस्कार का प्रभाव पड़ेगा।

(३) लेखक का प्रिय विषय।

इन तीनों बातों को समझने के पश्चात् वाक्य-विन्यास के अध्ययन की आवश्यकता होती है। वाक्य-रचना के विषय में, साधारणतः यह देखना चाहिए कि लेखक ने वाक्य छोटे लिखे हैं अथवा बड़े उनका संगठन कैसा है; समुच्चय बोधक 'और' का अधिक प्रयोग करने से वाक्यों में शिथिलता तो नहीं आगई है; वाक्य जटिल और दुर्बोध तो नहीं हैं, जान-बूझ कर उन्हें बढ़ाने या जटिल बनाने का प्रयत्न तो नहीं किया गया है, अनावश्यक वाक्यांशों का प्रयोग तो नहीं है। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि लेखक ने मुहाविरों का समुचित प्रयोग किया है अथवा नहीं और उनसे क्या लाभ अथवा उनके न होने से क्या हानि हुई है। अन्तिम बात यह है कि अपने विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने के लिए उसने कैसे वाक्य लिखे हैं। प्रायः लेखक संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्यों का प्रयोग करके अपना उद्देश्य व्यक्त करने वाला प्रधान उप-वाक्य अंत में रखते हैं। इससे पाठक की उत्सुकता बढ़ जाती है। कभी-कभी कई वाक्यों में प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर अपनी बात पर जोर दिया जाता है। कोई-कोई लेखक (जैसे हमारे बाबू जयशंकर प्रसाद) नाटकीय ढंग से वाक्य-रचना करके उन्हें प्रभावोत्पादक बनाते हैं। अन्त में व्यंग्य और कटाक्ष की चुभती हुई फबतियाँ भी—यदि हों

वाक्य-विन्यास
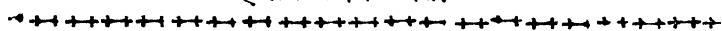
तो—छाँटना चाहिए। इनकी विवेचना करने में बड़ा आनन्द आयगा। परन्तु व्यंग्य और कटाक्ष, शिष्टाचार की सीमा के अन्तर्गत ही हों; जले-दिल के फफोले नहीं। इनका प्रयोग कुशल लेखक ही सफलता पूर्वक कर सकता है।

भाषा-शैली के विषय में सबसे पहले तो हमें यह देखना होगा कि हिंदी के तीन रूपों में से—जो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी के समय से प्रचलित हुए थे—उसने किस-किस को अपनाया है और क्यों? प्रायः हम देखेंगे कि सभी लेखकों की भाषा एक से अधिक प्रकार की है और इस विभिन्नता का कारण, जैसे ऊपर लिखा जा चुका है विषय का गंभीर अथवा सरल होना तो एक ओर है और रुचि तथा आदर्श दूसरी ओर। अतः सबसे पहले हमें इन्हीं से परिचित होना चाहिए। एक लेखक (जैसे प्रेमचदजी) का विषय केवल कहानी या उपन्यास लिखना है। साधारणतः उसकी भाषा सरल और प्रचलित होनी चाहिए। स्थल विशेष पर, पात्र की भाषा का ध्यान करके अथवा अन्य किसी कारण से, संभव है, अन्य दोनों रूपों में से एक के या दोनों के दर्शन भी हो जायँ; पर कहानी-लेखक यदि (बाबू रायकृष्णदासजी की भाँति) भावुक और कवि हुआ तो उसकी भाषा के साधारण रूप पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और यदि (बाबू जयशंकर प्रसाद की तरह) लेखक भावुक कवि होने के साथ अपना निजी आदर्श भी रखता है तो उस काव्यात्मक भाषा-शैली में उस आदर्श के अनुसार भी परिवर्तन होना चाहिए। ऐसी दशा में उसकी भाषा में अलंकारों की छटा के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ तो मिलेंगी ही, भाषा का साधारण रूप भी आवरण से ढक जायगा। इसी प्रकार गम्भीर विषयों पर लिखते समय भी भाषा में संस्कृत शब्दों का—कभी-कभी समासांत पदों का—बाहुल्य रहेगा। लेखक यदि भाषा के इस रूप का पक्षपाती हुआ (जैसे पंडित गोविन्दनारायणजी मिश्र) तब तो फिर सरल विषय भी कादम्बरी की गद्य-काव्य की भाषा में लिखा जायगा।

पश्चात्, हमें विदेशी शब्दों—विशेषकर अरबी, फारसी और अँगरेजी—के प्रयोग पर ध्यान देना चाहिए। आज राष्ट्र-भाषा का महत्त्व-

पूर्ण प्रश्न छिड़ जाने के कारण इस ओर ध्यान देना और भी आवश्यक हो गया है।

अंतिम बात है हिन्दी भाषा के तीनों रूपों तथा विदेशी शब्दों के प्रयोग के विषय में लेखक के विचारों से परिचित होना। हमारा यह कार्य लेखक की भाषा शैली के समझने में तो सहायक होगा ही, साथ ही हम भाषा तथा उसके रूपों के विकास का कारणसहित क्रम भी जान सकेंगे। तभी शैली का अध्ययन उचित रीति से हो सकेगा।

हिंदी गद्य का विकास

(क) प्राचीन हिंदी गद्य

(सन् १२०० से १८०० तक)

विषय-प्रवेश

यह एक प्रसिद्ध साहित्यिक तथ्य है कि प्रायः सभी भाषाओं के प्राचीनतम उदाहरण पद्य में ही मिलते हैं, गद्य में नहीं। इसका कारण यह नहीं समझना चाहिए कि मनुष्यों ने बातचीत करना भी पद्य से ही आरम्भ किया होगा; प्रत्युत कारण यह है कि प्रेस का आविष्कार न होने से साहित्य-सेवियों को अपनी रचनाएँ कंठाग्र रखनी पड़ती थीं और पद्य को अपने कंठ में संरक्षित रखना गद्य की अपेक्षा सरल है। हिन्दी भी इस साहित्यिक तथ्य का अपवाद नहीं है। हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा काल, भक्तियुग और रीतिकाल में काव्य की जो प्रगति हुई, वह गद्य की न हो सकी; गद्य के तो केवल कुछ चिह्न ही मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गद्य में लिखने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी और अनेक ग्रन्थ उसमें रचे भी गए। परन्तु उन्हें काव्यों की-सी प्रसिद्धि न मिल सकी। इससे बहुत-से ग्रन्थ तो नष्ट हो गए होंगे, जो शेष भी रहे हैं उनकी खोज का प्रारम्भ नहीं हुआ समझना चाहिए। सम्भव है, इस काल के अनेक गद्य-ग्रन्थ अन्धकार में ही पड़े हों। हाल ही की खोज में प्राचीन हिन्दी-गद्य के जो नमूने मिले हैं उनके आधार पर इतना निश्चित

रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी का प्राचीन साहित्य गद्य से सर्वथा शून्य नहीं है।

हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल में साहित्यिक क्रियाशीलता का केन्द्र प्रधानतः राजस्थान ही था। पद्य के साथ-साथ बहुत से गद्य-ग्रन्थ इस समय लिखे बताए जाते हैं जो आज प्राप्त नहीं हैं। अधिकांश ग्रन्थ तो राजनीतिक परिवर्तनों और उलट-फेर के फलस्वरूप नष्ट हो गए और शेष संरक्षकों की असावधानी के कारण। कुछेक पर्याप्त खोज न होने से अब भी अन्धकार में पड़े हैं। हाँ, राजघरानों में कुछ शिलालेख और दानपत्र अवश्य मिलते हैं जिनसे इस युग के गद्य का नमूना मिल जाता है। राजस्थानी गद्य के यही सबसे प्राचीन उदाहरण प्राप्त हैं। इनमें प्रयुक्त कुछ शब्दों के रूप संस्कृत की विभक्ति से ही युक्त हैं; जैसे 'समरसिंह की आज्ञा से' के लिए लिखा है, 'समरंसी जी वचनातु।' दूसरी बात यह कि इनकी क्रियाएँ खड़ी बोली की-सी हैं; जैसे—लेवेगा, जावेगा, करोगे, आवोगे, होवेंगे। तीसरी, थोड़ा हेर-फेर छोड़कर इनके शब्द आजकल के से ही हैं; जैसे आचरज, डायजे, ओषद। 'जनाना' जैसे एकाध फारसी शब्द भी कहीं-कहीं मिलते हैं जिनसे अनुमान होता होता है कि उसका भी बोलचाल की भाषा पर धीरे-धीरे प्रभाव पड़ने लगा था।

राजस्थानी गद्य

बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी में ही कुछ जैन साधुओं ने निज धर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें कुछ गद्य के हैं और कुछ पद्य के। पद्य-रचनाएँ प्रायः मौखिक ही रहती थीं; परन्तु गद्य-ग्रन्थ लिखित हैं और कुछ के अंश अब भी मिलते हैं। इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है। इनमें निश्चय रूप से राजस्थानी के प्राचीन गद्य का नमूना मिल जाता है। इन सभी में संस्कृत के शब्द ही नहीं, लम्बे-लम्बे समासांत पद तक प्रयुक्त हुए हैं। इन जैन-ग्रंथों की भाषा पट्टे-परवानों की भाषा से कुछ भिन्न है और यह स्वाभाविक भी था।

वीरगाथा काल में राजस्थानी गद्य

पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी गद्य ने

पर्याप्त उन्नति की। गद्य में रचना करने का जो क्रम राजस्थान में भक्ति काल के पूर्व से आरम्भ हुआ वह तीन-चार सौ वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। राजस्थान में इस समय छोटे-छोटे राज्य थे। इन शताब्दियों में इनकी ख्यातें (इतिहास) बराबर लिखी जाती रहीं।

भक्तिकाल में राजस्थानी गद्य

साथ-साथ कथा-साहित्य की, जिनमें ऐतिहासिक, इतिहास-आधारित और काल्पनिक सभी प्रकार की रचनाएँ हैं, सृष्टि भी अविकल रूप से होती रही। वीररस के प्रबन्ध और मुक्तक ऐतिहासिक, इतिहास, काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त इन तीन शताब्दियों में 'धर्म, नीति, छंदशास्त्र, शालिहोत्र, वृष्टिवि-ज्ञान इत्यादि अनेक विषयों के ग्रन्थ भी एक बड़ी संख्या में उपलब्ध है। ये ग्रन्थ गद्य पद्य दोनों में हैं।' अभी तक इनमें से गिने-चुने ही आंशिक रूप में प्राप्त हैं और उनके भी लेखकों, रचना और लिपिकालों का पूरा-पूरा पता नहीं लग रहा है।

सोलहवीं शताब्दी के प्राप्त ग्रन्थों में 'चन्द्रकुँवर री वात' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसके रचयिता का नाम प्रतापसिंह है। इन्होंने अपनी 'वात' सं० १५४० में लिखी थी। इसमें अमरावती नगरी के राजकुँवर और वहाँ के सेठ की पुत्री चन्द्रकुँवरि की प्रेम-कहानी गद्य-पद्य में कही गई है। इसकी भाषा बोलचाल की राजस्थानी है। इस 'वात' के अतिरिक्त और भी बहुत से गद्य-ग्रन्थ इस काल में रचे गए बताए जाते हैं।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में भी राजस्थानी भाषा में गद्य-ग्रन्थ लिखने का क्रम पूर्ववत् ही बना रहा, अनेक ऐतिहासिक और काल्पनिक कहानियाँ लिखी गईं। ब्रजभाषा अब तक पूर्ण रूप से साहित्यिक भाषा के—आशय काव्य भाषा से है—पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अतः इस युग तक आते-आते राजस्थानी लेखकों ने भी उसमें ग्रन्थ-रचना आरम्भ कर दिया। इनकी भाषा में राजस्थानी और ब्रज का मिश्रण मिलता है और यह स्वाभाविक भी था। इस प्रकार की भाषा में अबुलफजल की 'आईने अकबरी' का हिन्दी अनुवाद, जो लगभग ५०० बड़े पृष्ठों का है, महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी भाषा का

रीतिकाल में राजस्थानी गद्य

नमूना यह है—

अब शेख अबुलफजल ग्रन्थ को करता प्रभो को निमिस्कार करिकैं अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने को कसत करै हे, अरु कहै है याकी बड़ाई अरु चिमतकार कहाँ तक लिखूँ, कही जात नाहीं। तातै याके पराकरम अरु भाँति-भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया में प्रगट भए, ताको संक्षेप लिखत हैं।

—(सं० १८५२—सन् १७९५)

शुद्ध राजस्थानी में भी 'रघुवर जस प्रकास' 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' जैसे कुछ ग्रन्थ उन्नीसवीं शताब्दी में लिखे गए। इनकी भाषा डिंगल है। आगे चलकर खड़ी बोली का विस्तार-क्षेत्र बढ़ जाने के कारण राजस्थानी भाषा का हिन्दी-भाषी प्रांतों में विशेष प्रचार न हो सका। पद्य के लिए भी उसका क्षेत्र सीमित ही रहा।

वीरगाथा काल में काव्यभाषा का ढाँचा प्रायः शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही था। काव्यभाषा के रूप में इसका प्रचार बहुत समय पूर्व से था और चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ तक

ब्रजभाषा का गद्य

तो इतना बढ़ गया था कि जिन पश्चिमीय प्रदेशों की बोलचाल की भाषा खड़ी बोली थी वहाँ भी कविता के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया जाता था। फारसी के प्रसिद्ध लेखक अमीर खुसरो (मृत्यु सं० १३८१) के गीत और दोहे इसी ब्रजभाषा में हैं। 'वासो', 'भयो', 'वाको', 'मोहि अचंभो आवत', 'बसत है', 'देखत में', 'मेरो', 'सोवै' 'भयो है', 'डरावन लागै', 'डस डस जाय' जसे ब्रजभाषा रूप उनकी कविता में बराबर मिलते हैं।

वीरगाथा काल के प्राप्त ग्रन्थों में कुछ गोरखपन्थी ग्रन्थों का संबंध जिनके विषय प्रायः हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि हैं, ब्रजभषा गद्य से है। इनमें एक के रचयिता का नाम कुष्टिपान है और

वीरगाथाकाल में ब्रजभाषा का गद्य

शेष गोरखनाथ के शिष्यों के रचे अथवा संकलित किए हुए हैं। अब तक अधिकांश गोरखपन्थी ग्रन्थों का रचयिता हमारे विद्वान बाबा गोरखनाथ को ही मानते थे, परन्तु ग्रन्थों की संख्या, उनके साथ बाबाजी का नाम और

उनमें बाबाजी के महत्व, विवाद, सिद्धांत आदि की बातें देखकर अनुमान किया जाने लगा है कि इनकी रचना अथवा संग्रह गोरखनाथ के शिष्यों ने किया होगा, यद्यपि यह भी सम्भव है कि इनमें से एकाध की रचना स्वयं बाबाजी ने भी की हो। इन ग्रन्थों में एकाद गद्य में है। उसकी भाषा यह है—

सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्रह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस जग्य करि चुकौ, अरु देवता सर्व पूजि चुकौ, पितरनि को सन्तुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छन मात्र ब्रह्म के बिचार बैठो।

इस अवतरण में 'सम्पूर्ण', 'प्राप्त', 'सर्व', 'स्वर्गलोक' 'सन्तुष्ट', 'मात्र', 'मनुष्य' आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार के लिए भारत के पश्चिमी भाग—पंजाब, राजपूताना आदि प्रदेश चुने थे। इसलिए इन ग्रन्थों की ब्रजभाषा में 'अम्हे', 'पूछिबा', 'कहिबा', 'करिबा' आदि राजस्थानी शब्द भी मिलते हैं। 'जा मनुष्य के मन छन मात्र ब्रह्म के बिचार बैठो' जैसे वाक्यांशों पर पूरबीपन की छाप भी स्पष्ट है।

भक्तिकाल में ब्रजभाषा गद्य

वीरगाथाकाल के पश्चात भक्तियुग में एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य-केन्द्र राजस्थान न रह कर ब्रज और काशी के आस-पास हो गया। फलतः राजस्थानी के साथ साथ ब्रजभाषा और अवधी को भी काव्यभाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ ही वर्षों में दोनों भाषाओं में अनेक सुन्दर काव्य रचे गए। आगे चलकर धार्मिक उत्थान का आश्रय पा जाने के कारण ब्रजभाषा का क्षेत्र अवधी से बहुत विस्तृत हो गया। काव्य की सर्वमान्य भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाने पर अनेक गद्य-ग्रन्थ भी उसमें रचे गए। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य (सं० १५३५-१५८७) के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ (सं० १५७२-१६४२) का गद्य सामने आता है। इन्होंने 'शृंगाररस-मंडन' और 'राधाकृष्ण-विहार' नामक दो ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखे थे।

इन दोनों की भाषा का नमूना देखिए—

(१) जम के सिषर पर सब्दायमान करत है, बिबिध बायु बहत हैं, हे निसर्ग स्नेहार्द्र सखी कूँ संबोधन प्रिया जू नेत्र कमल कूँ कछुक मुद्रित दृष्टि होय कै बारंबार सखी कछु कहत भई यह मेरो मन सहचरी एक छन ठाकुर को त्यजत भई।

—राधाकृष्ण विहार।

(२) प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरन विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूहता करि निकुञ्ज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।

— शृंगाररसमंडल।

सत्रहवीं शताब्दी के व्रजभाषा-गद्य-लेखकों में सबसे पहला नाम हरिराय का आता है। इनका जीवनकाल सं० १६०७ माना गया है। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य एवं संस्कृत तथा हिंदी के अच्छे ज्ञाता बताए गए हैं। इनके 'भाव भावना' नामक गद्य ग्रन्थ की भाषा इस प्रकार की है—

व्यवस्थित व्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक हरिराय

सो पुष्टि मार्ग में जितनी क्रिया हैं, सो सब स्वामिनीजी के भावते हैं। ताते मंगलाचरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनीजी के चरण-कमल कों नमस्कार करत हैं जिनकी उपमा देवे कों मन दसो दिसा दोरयो। परन्तु कहूँ पायो नहीं। पाछे श्री स्वामिनीजी के चरण-कमल को आश्रय कियो है। तब उपमा देवे कूँ हृदय में स्फूर्ति भई। जैसे श्री ठाकुरजी को अधर बिंब आरक्त हैं रस रूप तेसेई श्री स्वामिनीजी के चरण आरक्त हैं। नाते श्री चरण-कमल को नमस्कार करत हैं। तिनमें अनवट, बिछुआ, नूपुर आदि आभूषण हैं।

यह गद्य बिल्कुल स्पष्ट और व्यवस्थित है। इससे पता लगता है है कि संवत् १६१० के लगभग गद्य का प्रयोग ग्रन्थ रचना के लिए बराबर किया जाता था। उक्त आवरण में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है।

इसी समय के लगभग 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' का गद्य सामने आता है। अब तक ये ग्रन्थ गोस्वामी बिट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ के नाम पर, जिनका समय सं० १६२५ से १६५० के आस-पास है, प्रचलित थे। अब कुछ आलोचकों का कहना है कि ये ग्रन्थ उसके किसी शिष्य के रचे हुए होना चाहिए। जो हो, ये 'वार्ताएँ' सत्रहवीं शताब्दी में रची मानने के लिए प्रायः सभी विद्वान् तैयार हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

वार्ताएँ और उनका गद्य

(१) चौरासी वैष्णवों की वार्ता

तब सूरदासजी ने अपने स्थल तें आय के श्री आचार्यजी महाप्रभून के दर्शन को आये। तब श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर आवो बैठो। तब सूरदासजी श्री आचार्यजी महाप्रभून के दर्शन करिकै आगे आय बैठे। तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद्‌यश वर्णन करौ। तब सूरदास ने कही जो आज्ञा।

(२) दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता

नंददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई हते। सो बिनकूँ नाच-तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शौक हतो। सो वा देश में सूँ एक संग द्वारका जात हतो। सो नंददास जी ऐसे विचार वें श्री रणछोड़ जी के दर्शन कूँ जाऊँ तो अच्छौ है। जब बिनने तुलसीदास जी सूँ पूँछी तब तुलसीदास जी श्री रामचंद्रजी के अनन्य भक्त हते। जासूँ बिनने द्वारका जायबे की नाहीं कही।

इस भाषा के सम्बन्ध में दो बातें मुख्यतः स्मरण रखनी चाहिएँ। पहली बात यह है कि उक्त अवतरण जनसाधारण में प्रचलित ऐसी भाषा के हैं जिसमें भाव-व्यंजना की सुन्दर शक्ति जान पड़ती है। उनके लेखक ने कहीं अपनी योग्यता अथवा किसी प्रकार का चमत्कार दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है। संस्कृत के तत्सम, तद्भव तथा अन्य प्रचलित शब्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि संस्कृत के प्रभाव से मुक्त एक काव्य भाषा उस समय गद्य-भाषा

वार्ताओं के गद्य की आलोचना

का रूप धारण करने की ओर पैर बढ़ा रही थी। दूसरे अवतरण में प्रयुक्त 'तमासा' 'शौक' आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि लेखक अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को अपनाने के भी पक्ष में है।

दूसरी बात क्रिया पदों के रूप से सम्बन्ध रखती है। बाबा गोरखनाथ, गोसाईं विट्ठलनाथ, हरिराय आदि गद्य लेखकों की भाषा की क्रियाएँ तथा कुछ अन्य शब्द इस बात के समर्थक हैं कि उनकी रचनाएँ व्रजभाषा की ही हैं। इस गद्य का क्रमशः विकास होता गया। 'वार्ताओं' के लेखक की भाषा में यद्यपि क्रिया-पदों का रूप पूर्ववत् ही बना रहा तथापि कुछ ऐसे क्रिया रूपों का प्रयोग भी उन्होंने किया जो नए तो नहीं कहे जा सकते, पर जिनका प्रयोग पूर्ववर्ती लेखकों के गद्य में बहुत कम हुआ है। उदाहरण के लिए रेखांकित क्रियाएँ देखिए—

सो एक दिन नंददासजी के मन में ऐसी आई। जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है। सो हम हूँ श्रीमद्भागवत् भाषा करें।

इन पंक्तियों में 'आई', 'करी है', 'करें' आदि क्रिया रूप प्रायः वे ही हैं जो वर्तमान खड़ी बोली में प्रयुक्त होते हैं। यही नहीं, 'वार्ताओं' की भाषा पूर्ववर्ती लेखकों की भाषा से कुछ शुद्ध भी है। 'पूर्ण होत भई', की तरह पर 'त्यजत भई', 'कहत भई' आदि जो प्रयोग गोस्वामी बिट्ठलनाथ आदि की भाषा में हैं, उनके स्थान पर 'वर्ताओं' में कारक चिह्न का प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक निश्चित रूप से हुआ है। सारांश यह कि ये 'वार्ताएँ' व्रजभाषा गद्य की सबसे सुन्दर रचनाएँ हैं और इनकी भाषा शुद्ध तथा व्यवस्थित है।

वार्ताओं' के गद्य में खड़ी बोली के चिह्न

यह तो हुई 'वार्ताओं' की बात। इनके अतिरिक्त स्वामी गोकुलनाथ के बनाए हुए ६ ग्रन्थ—वनयात्रा, पुष्टिमार्ग के वचनामृत (लि० का० १८४२ ई०) रहस्य भावना (लि० का० १८५४ ई०) सर्वोत्तम स्तोत्र, सिद्धांत-रहस्य और वल्लभाष्टक—प्रकाश में आए हैं। ये सब ग्रन्थ व्रजभाषा में हैं और इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों तथा भक्ति-विषय का प्रतिपादन किया गया है। यदि 'वार्ताओं'[१] का रचयिता गोस्वामी

गोकुलनाथ को न भी मानें तब भी उक्त ग्रन्थों को देखकर डाक्टर बड़-थ्वाल उन्हें अनेक गद्य ग्रन्थों का निर्माता, उत्कृष्ट विद्वान् और श्रेष्ठ लेखक स्वीकार करते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य गद्य लेखकों में नन्ददास, नाभादास, तुलसीदास, बनारसीदास, किशोरदास और बैकुण्ठमणि शुक्ल के गद्य-ग्रन्थों का पता लगता है। ये ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से तो विशेष महत्त्व के नहीं हैं तथापि ब्रजभाषा के विकास की दृष्टि से उनका मूल्य अवश्य है, इनसे हमें तत्कालीन गद्य-भाषा के रूप का कुछ परिचय अवश्य मिलता है, और हम यह कहने का अवसर भी पाते हैं कि हमारे कवि कभी-कभी गद्य में भी लिखा करते थे। इन सब लेखकों की भाषाओं को 'वार्ताओं' की भाषा का सौ-डेढ़ सौ वर्षों में विकसित रूप नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह अवश्य ठीक है कि ब्रजभाषा गद्य में यदा-कदा ग्रन्थ अवश्य लिखे जाते थे।

भक्तिकाल के अन्य गद्य-लेखक

उक्त लेखकों के पश्चात् इस गद्य का विकास नहीं हुआ। रीतिकाल के लेखकों ने तो इसका प्रयोग काव्य-ग्रन्थों की केवल शाब्दी टीका करने के लिये किया: यहाँ तक कि कदाचित एक भी स्वतन्त्र और प्रौढ़ ग्रन्थ इस समय के गद्य में नहीं लिखा गया। टीका और भाष्य इस समय के अवश्य मिलते हैं—एक 'बिहारी सतसई' की ही कई टीकाएँ पाई जाती हैं। टीकाकारों में सुरतिमिश्र किशोरदास और सरदार कवि का नाम उल्लेखनीय है। भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से इनका विशेष मूल्य नहीं है। कारण, इनकी भाषा प्रायः अव्यावहारिक और अव्यवस्थित है तथा शैली अपरिमार्जित और पण्डिताऊ ढंग की।

रीतिकाल का हिंदी-गद्य—टीकाएँ

'रामचन्द्रिका' की टीका का एक उदाहरण देखिए—

राघव सर, लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि के गयो॥
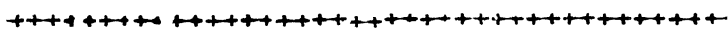
टीका—सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अंस कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं, जिन सहित मानो कलिंदगिरि-शृंग ते हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है, हंसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्यान के सदृश अनेक रंग-नग जटित मुकुट है।

इस युग में लिखी गई प्रायः सभी टीकाएँ इसी भाषा-शैली में हैं। प्रायः अधिकाँश स्थलों पर इन टीकाओं का गद्य सरल और स्पष्ट न होकर दुर्बोध और अस्पष्ट हो गया है। कहीं-कहीं तो ऐसा है कि मूल पाठ का अर्थ भले ही समझ में आ जाय; परन्तु टीकाओं का अर्थ समझना कठिन समस्या हो गया है।

राजस्थानी के प्राचीन गद्य लेखों, विशेषतः मेवाड़ की सनद (सन् ११७२) को देखकर कुछ आलोचकों ने अनुमान किया है कि खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप कुछ अंशों में हमें राजस्थान में ही मिलता है। इसके विपरीत, कुछ विद्वानों का मत है कि आठवीं और नवीं शताब्दी में यह भाषा युक्तप्रान्त के पश्चिमी भाग में प्रचलित थी। अब प्रायः सर्वमान्य यही है कि खड़ी बोली का क्षेत्र दिल्ली और मेरठ के आस-पास था। यह इन पश्चिमी प्रदेशों में बोल-चाल के साधारण व्यवहार में आती थी। जब मुसलमान भारतवर्ष में आए तब विचार-विनिमय के लिए उन्हें जनता की इस साधारण भाषा का चलताऊ ज्ञान प्राप्त करना—दैनिक आवश्यकताओं-सम्बन्धी भाव व्यक्त करने वाले शब्द जानना—जरूरी हो गया। राजस्थानी, ब्रजभाषा आदि को छोड़कर इन्होंने खड़ी बोली को ही क्यों अपनाया, इसके दो कारण थे। पहली बात तो यह कि वे भाषाएँ एक प्रकार से साहित्यिक हो चली थीं और खड़ी बोली जनता की भाषा थी। दूसरे, पंजाब के पश्चात् मुसलमानों के पैर दिल्ली-मेरठ के आस-पास जमे, जो खड़ी बोली का क्षेत्र था।

खड़ी बोली

मुसलमानों के दिल्ली-मेरठ के आस-पास बस जाने से खड़ी बोली का काम केवल इतना ही हुआ कि वे उसके अनेक शब्दों से परिचित हो गये। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में इन मुसलमानों ने

उत्तरी भारत की विजय का प्रयत्न किया और सफल हो जाने पर शासक-रूप में ये अनेक भिन्न प्रान्तीय नगरों में बस गए। इस प्रकार जिन शब्दों का ज्ञान इन्हें हुआ था, वे दूसरे स्थानों में भी फैल गए। यही क्रम सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में चलता रहा और ज्यों-ज्यों मुसलमानों का राज्य उत्तरी-भारत में फैलता गया, त्यों-त्यों खड़ी बोली का क्षेत्र भी बढ़ता रहा, धीरे-धीरे उसका प्रसार सारे देश में हो गया, वह राष्ट्रभाषा-सी बन गई। अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की अवनति होने पर खड़ी बोली को अपना क्षेत्र बढ़ाने का दूसरा अवसर मिला। दिल्ली, मेरठ आदि के आसपास की जिस जनता में खड़ी बोली का प्रचार बहुत पहले से था, वह आक्रमणकारियों के भय से जान-माल की रक्षा तथा जीविकोपार्जन के लिए लखनऊ, आगरा, प्रयाग, बनारस आदि पूर्वीय नगरों में आकर बस गई। अपने साथ यह खड़ी बोली भी लाई थी। इस प्रकार खड़ी बोली का इन नये नगरों में प्रचार बढ़ता गया।

खड़ी बोली का क्षेत्र

भाषा-विज्ञान का यह एक तथ्य है कि बोलचाल की भाषा में साधारण गीतों, आश्चर्यजनक किंवदन्तियों, कहावतों आदि से ही साहित्य-रचना आरम्भ होती है। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो भाषा का प्रचार बढ़ता है और दूसरे उसमें भाव व्यक्त करने की शक्ति आती है। बोलचाल की परिमित परिधि से विकसित होती खड़ी बोली में अमीर खुसरो ने पद्यों, तुकबन्दियों, दोसखुनों, पहेलियों और मुकरियों आदि की जो रचना की उनसे वीरगाथाकाल के अन्तिम वर्षों में ही हमें खड़ी बोली के पर्याप्त प्रचलित हो जाने का प्रमाण मिलता है। इस सम्बन्ध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि खुसरो ने जनसाधारण के मनोरंजन के लिये ही रचना की थी। अतः उन्होंने अत्यन्त प्रचलित भाषा को ही अपनाया था। नीचे खुसरो की खड़ी बोली के नमूने देखिये—

खड़ी बोली की प्राचीन रचनाएँ
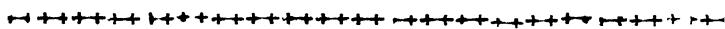
(१) अरथ तो इसका बूझेगा। मुँह देखो तो सूझेगा।

(दर्पण)

(२) स्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसी नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥

(आरी)

(३) एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी होके बिल में बैठी।
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बलबल जाय॥

(पायजामा)

खड़ी बोली का गद्य

अब खड़ी बोली के गद्य पर विचार करना है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि 'वार्ताओं' में वर्तमान खड़ी बोली के कुछ प्राचीन रूप मिलते हैं। इनकी रचना के लगभग २५ वर्ष पहले गंगाभाट की, जो अकबर के दरबार में थे, 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक एक पुस्तक लिखी मिलती है, जिसकी भाषा पर यद्यपि व्रजभाषा का प्रभाव पड़ा है तथापि वह खड़ी बोली का प्राचीन रूप ही है। इसी से गंगाभाट को ही हम खड़ी बोली का सर्वप्रथम गद्य-लेखक मान सकते हैं। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

श्री दलपति जी अकबरसाह जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुरनिश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करे अपनी अपनी मिसिल से। जिनकी बैठक नहीं रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।

चन्द छन्द बरनन की महिमा (सं० १६२७ के लगभग)

गंगकवि के लगभग पौने दो सौ वर्ष पश्चात् होने वाले खड़ी बोली के दो गद्य-लेखकों का पता इधर और लगा है। इनमें प्रथम का नाम रामप्रसाद 'निरंजनी' है। ये पटियाला दरबार में महारानी को कथा सुनाने के लिए नौकर थे। इनका लिखा 'भाषा योगवाशिष्ठ' नाम का

एक गद्य-ग्रन्थ मिला है। इसकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और परिमार्जित है। इसका एक उदाहरण देखिये—

मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे और हर शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग भय क्रोध से रहित रहोगे। जिसने आत्मतत्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। उसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्व को देखो। तब विगत ज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म मरण के बंधन में न आओगे।

अब तक कुछ लोगों का अनुमान था कि अँगरेजों की कृपा से खड़ी बोली का जन्म हुआ। एक दूसरे दल का मत था कि अँगरेजों द्वारा गद्य का जन्म होने के पूर्व ही स्वतन्त्र रूप से यह कार्य किया गया। अब इन दोनों विवादग्रस्त मतों का अन्त हो जाना चाहिये। कारण, दोनों दलों के व्यक्तियों ने जिन गद्य-लेखकों को खड़ी बोली का जन्मदाता माना है, उनसे लगभग ६० वर्ष पहले उक्त ग्रन्थ लिखा गया था। अतः हम इस ग्रन्थ के लेखक रामप्रसाद निरंजनी को, शुक्लजी के साथ-साथ, खड़ी बोली का ऐसा प्रथम लेखक मानते हैं, जिसने प्रौढ़ परिष्कृत और शुद्ध भाषा में ग्रन्थ लिखकर एक नवीन आदर्श अन्य लेखकों के सामने उपस्थित किया।

दूसरे लेखक का नाम दौलतराय है। ये मध्यप्रदेश के निवासी थे। इन्होंने सन् १७६१ में हरिषेणाचार्य कृत 'पद्म पुराण' ग्रन्थ का खड़ी बोली में अनुवाद किया था। यह लगभग ७०० पृष्ठों में पूरा हुआ है। इसकी भाषा का नमूना यह है—

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं। इंद्र के लोक के समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँठोन के बाड़े शोभायमान है, जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मंडोवर का वर्णन' नामक एक और निबन्ध सन् १७८० के लगभग का लिखा मिलता है। इसके लेखक के

सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात है कि वह राजस्थान का निवासी था। इस ग्रन्थ की भाषा का नमूना यह है—

अवल में यहाँ मांडक रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडकाश्रम हुआ। इस लफज का बिगड़कर मंडोवर हुआ है।

रीतियुग के समाप्त होने के पहले ही भारत में अँगरेजों का प्रभुत्व स्थापित होना आरम्भ हो गया था। सन १७६० के लगभग दक्षिण में

अँगरेजों का आगमन

अच्छी तरह अपनी धाक जमाने के पश्चात् वे बङ्गाल में अपनी शक्ति को केन्द्रित करके उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ने लगे। सन् १७६४ में बक्सर की लड़ाई के बाद बंगाल उनके हाथ में आ गया और एक वर्ष पश्चात् बिहार और अवध की दीवानी उन्हें मिल गई। इसी प्रकार उनकी शक्ति बढ़ती गई और पचास वर्ष के भीतर ही उन्होंने हैदरअली, टीपू और शक्तिशाली मरहठा शासकों को हराकर प्राय: समस्त भारत का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। सन् १८५७ में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए होने वाले असंगटित और अव्यवस्थित उद्योग का दमन करने के पश्चात् भारत का प्रबन्ध कम्पनी के हाथ से निकलकर इँगलिस्तान की सरकार के हाथ में चला गया। इस शक्तिशाली विदेशी जाति की प्रभुता और प्रधानता जैसे-तैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे राजनीतिक क्षेत्र में तो आन्दोलन होता ही गया, समाज और धर्म में भी क्रान्ति की एक लहर-सी आ गई। अँगरेजों के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी आदर्श भिन्न थे—भिन्न ही क्यों भारतवासियों के लिए तो उस समय सर्वथा नवीन थे। दक्षिण और पूर्व में उनकी शीघ्र विजय ने तो हमें जितना उनकी ओर आकर्षित किया उससे कहीं अधिक आश्चर्य में डाल दिया था। अँगरेजों को सबसे पहले तो भारत में अपना व्यापार-क्रम निर्विघ्न और निरापद करना था, इसके पश्चात्—परन्तु कार्य रूप में इसके पहले ही—उन्हें अपनी राज-सत्ता भी स्थापित करनी थी। अँगरेज पादरी अपना ईसाई धर्म भी डरते-डरते प्रचारित करना चाहते थे।
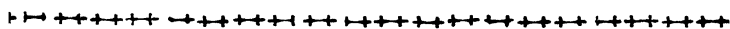
अँगरेजों को जब, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गद्य की आवश्यकता हुई तब उन्होंने खड़ी बोली के उक्त दोनों ही रूपों को अपनाया।

खड़ी बोली का अपनाया जाना

प्रथम रूप अर्थात् खड़ी बोली को अपनाने का प्रधान कारण यह था कि इसका प्रचार-प्रसार प्रायः समस्त भारतवर्ष में था और सभी उन्नत नगरों के शिष्ट जनों की यही व्यावहारिक भाषा थी। खड़ी बोली के दूसरे रूप उर्दू को वे इसलिए अपनाने पर विवश हुए कि वह यहाँ ही राज-भाषा से सम्बन्धित थी। यह भी सम्भव है कि इसके अपनाने में कोई राजनैतिक दूरदर्शिता छिपी हुई हो। परन्तु खड़ी बोली का अपनाना तो उनके लिए लाभदायक भी था और सुविधाजनक भी। इसके दो कारण ऊपर बताए जा चुके हैं। तीसरी बात यह भी है कि स्वयं अँगरेज भी भारत के दक्षिणी और पूर्वीय प्रान्तों में बसकर इस भाषा से परिचित हो चुके थे। दूसरे शब्दों में, हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा तो यह थी ही, मुसलमान भी बहुत समय से इसी में बातचीत और इसी का व्यवहार करते आ रहे थे। अँगरेज भी थोड़ा-बहुत इसे समझने लगे थे। अपने काम के लिए उन्हें ऐसी ही व्यावहारिक भाषा की आवश्यकता थी। अतः सरलता, प्रचार और व्यापकता के कारण तो उन्होंने खड़ी बोली को अपनाया और दरबार की भाषा से सम्बन्ध होने के कारण उसके दूसरे रूप 'उर्दू' को।

(ख) प्रगति-चिन्ह-काल

(सन् १८०० से १८२५ तक)

सन् १८०० के पूर्व तक गद्य-भाषा पूर्ण रूप से व्यावहारिक हो चुकी थी। इसके पश्चात लगभग २५ वर्षों में इस व्यावहारिक भाषा को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न हुआ। इन वर्षों में मुंशी सदासुख लाल, इंशाउल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने इस सम्बन्ध में सराहनीय प्रयत्न किया। इन्हीं के उद्योग से हिन्दी-गद्य ने साहित्यिक रूप ग्रहण करने की ओर पैर बढ़ाया। अँगरेजों ने इस कार्य के लिए

अन्तिम दो लेखकों को थोड़ा-सा प्रोत्साहन दिया था, क्योंकि सन् १८०३ के लगभग कलकत्ते के फोर्ट-विलियम कालेज के अध्यक्ष जान-गिलिक्रिस्ट ने इनसे गद्य की कुछ पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराई थीं। परन्तु प्रथम दो लेखक इसके पूर्व ही अपने कार्य में स्वांतःसुखाय प्रवृत्त हो चुके थे।

मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज' (सन् १७४६ से १८२४ तक)

इन्होंने आरम्भ में तो 'जब उमंग आई तब' हिन्दी, उर्दू और फारसी में लिखा; परन्तु वस्तुतः इनका महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सुखसागर' है जो श्रीमद्भागवत के स्वतन्त अनुवाद के रूप में उपलब्ध है। यह 'भक्तिभाव से प्रेरित होकर' अर्थात् स्वांतः सुखाय लिखा गया था। अतः विषय की दृष्टि से 'सुखसागर' भले ही मौलिक न समझा जाय; परन्तु साहित्यिक गद्य की पहली कृति होने के कारण साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदैव महत्त्व का रहेगा। उनकी भाषा का नमूना यह है—

इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये और धनद्रव्य इकठौर कीजिये और मन को जो तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।

—सुखसागर (सन् १८१८)

मुन्शीजी की भाषा में 'होय', 'लय हूजिए', 'करि कै', 'होता है

सो' आदि प्रयोग देखकर पहली बात जो ज्ञात होती है वह यह कि 'सुखसागर' की भाषा पण्डिताऊ ढंग की है और लेखक ने यद्यपि प्रयत्न तो खड़ी बोली में गद्य लिखने का किया, तथापि व्रजभाषा और अवधी के प्रभाव से वह उसे पूर्णतः मुक्त नहीं रख सका; उसमें भी प्रान्तीयता और ग्रामीणता का पुट यत्र-तत्र मिलता ही है। दूसरी बात यह कि बोल-चाल की शिष्ट भाषा में मुन्शीजी ने 'संस्कार', 'प्रयाण', 'क्रिया', 'उत्तम', 'तात्पर्य' आदि संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में मिलाए हैं। तीसरे, 'सुखसागर' की भाषा में गम्भीरता, स्थिरता और शान्त प्रवाह है। चौथी बात यह कि मुन्शीजी ने अरबी-फारसी के शब्दों से भाषा को बचाया है।

मुन्शीजी की भाषा की आलोचना

सारांश यह कि गद्य में ग्रन्थ-रचना करने के लिए मुन्शीजी को न तो प्रेरणा ही किसी अन्य से मिली और न किसी आदर्श का अनुकरण ही उन्होंने किया। 'सुखसागर' लिखने के लिए उन्होंने 'भाखा' के उस रूप को ग्रहण किया जिसको अप्रचलित होता देख कुछ दुख के साथ उन्होंने लिखा था—

रस्मोरिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।

संस्कृत शब्दों की प्रचुरता के साथ-साथ इस कथा-भाषा में मुन्शीजी ने खड़ी बोली के क्रिया, संज्ञा और सर्वनाम शब्दों तथा कारकों की विभक्तियों को भी अपनाने का सफल प्रयत्न किया। उनकी भाषा की यह विशेषता खड़ी बोली के स्वतन्त्र विकास और स्वतन्त्र अस्तित्व की परिचायक है।

बाल्यकाल से ही फारसी की शिक्षा का इनके लिये उचित प्रबन्ध किया गया था। प्रतिभा इनमें थी और थोड़ी ही अवस्था में ये फारसी तथा उर्दू में कविता करने लगे थे। हिन्दी में इनकी लिखी 'रानी केतकी की कहानी' मिलती है। इसके लेखक का उद्देश्य भाषा के एक विशेष रूप पर अपना अधिकार दिखाना था। इन्होंने

इंशाअल्लाखाँ (मृत्यु सन् १८२६)
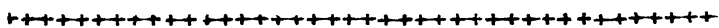
ऐसी भाषा में कहानी लिखने का प्रण किया था जिसमें—

(क) हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।

(ख) बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।

(ग) हिन्दवीपन भी न निकले, भाखापन भी न हो।

इन वाक्यों में प्रयुक्त, 'और किसी बोली' तथा 'बाहर की बोली' से लेखक का तात्पर्य अरबी, फारसी, तुरकी आदि विदेशी बोलियों से जान पड़ता है। 'गँवारी' से, सम्भव है, संकेत ब्रजभाषा और अवधी आदि की ओर है और 'भाखापन' का प्रयोग संस्कृत-मिश्रित हिन्दी के लिए किया गया है; क्योंकि मुसलमान संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त भाषा के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया करते थे। अतः खाँसाहब अरबी, फारसी, तुरकी आदि विदेशी तथा संस्कृत, ब्रज और अवधी आदि देशी भाषाओं के शब्दों से रहित जिस भाषा में अपनी कहानी लिखना चाहते थे, वह साधारण बोलचाल की भाषा में न होकर ठेठ घरेलू बोली होगी; क्योंकि बोलचाल की भाषा में उक्त भाषाओं के शब्द तत्सम, तद्भव रूप में अवश्य प्रयुक्त होते थे। अतः ठेठ घरेलू बोली के लिए ही उन्होंने 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग किया था। खाँ साहब अपने प्रयत्न में थोड़े-बहुत सफल भी हुए हैं। इनकी भाषा का एक छोटा-सा नमूना देखिए—

अच्छापना घाटों का कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का-बक्का कर रहे थे। जितनी ढबकी नावें थीं सोनहरी, रूपहरी, सजी-सजाई कसी-कसाई सौ-सौ लचकें खातियाँ, आतियाँ, जातियाँ, ठहरातियाँ फिरतियाँ थीं। —रानी केतकी की कहानी

भाषा की आलोचना

इन्शाअल्लाखाँ की भाषा देखकर यह कहा जा सकता है कि अपनी भाषा में जो 'ताव-भाव', 'कूद-फाँद' और 'लपट-झपट' दिखाने का उन्होंने निश्चय किया था वही चटक-मटक और चुलबुलाहट इसमें बहुत काफी है। संस्कृत, अरबी, फारसी आदि देशी-विदेशी भाषाओं के तत्सम
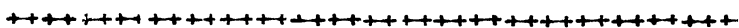
शब्दों का भी अभाव है—उन्होंने केवल घरेलू और तद्भव शब्द अपना कर अपना काम चलाया है। दूसरी बात यह कि खाँ साहब की भाषा कविता की तरह तुकांत और अनुप्रासपूर्ण है। इसके अतिरिक्त कहावतों और मुहाविरों का प्रयोग भी खाँ साहब ने बहुत सुन्दर किया है। राई को पर्वत बनाना, उँगली दिखाना, बात बनाना, ठण्डी साँस लेना, बेसिर की बातें बनाना, दहना हाथ मुँह पर फेरना, चौकड़ी भूल जाना आदि मुहावरों का प्रयोग मार्के का है। खाँ साहब की भाषा की यह विशेषता उनके समकालीन अन्य लेखकों के गद्य में नहीं मिलती। कह सकते हैं कि इन्हीं के प्रयोग के कारण वे देशी-विदेशी तत्सम शब्दों और प्रान्तीय पुट से अपनी भाषा को बचा सके; परन्तु उनकी भाषा में प्रवाह उर्दू-शैली का ही है। अनुप्रास का ढंग भी विदेशी है और उनकी कहानी में वाक्य-विन्यास पर भी फारसी शैली का प्रभाव है। 'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ अपने उस बनाने वाले के सामने', 'साथ ही दिन-रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को' जैसे वाक्य तो उनकी कहानी में मिलते ही हैं, कुछ परिच्छेदों के शीर्षक भी इसी ढंग के है, जैसे 'आना जोगी महेन्दरगिरि का।' इस वाक्य-विन्यास तथा 'महेन्द्र' के स्थान पर 'महेन्दर' देखकर भी कहना पड़ता है कि विदेशी शब्दों के प्रभाव से खाँ साहब अपनी शैली को नहीं बचा सके, यद्यपि मुसलमान और फ़ारसी तथा उर्दू के एक बड़े कवि होने के कारण हम इसे उनका दोष नहीं कह सकते।

ऊपर जिन दो लेखकों की हिन्दी-सेवा का परिचय दिया गया है, उन्होंने स्वांतःसुखाय हिन्दी गद्य में अपने ग्रन्थ लिखे थे। इन्हीं के दो अन्य समकालीन लेखकों ने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिष्ट के कहने से कुछ ग्रन्थों की रचना की थी। लल्लूलाल इनमें से एक हैं। ये बहुत विद्वान् नहीं थे। संस्कृत, अँगरेजी और उर्दू का इन्हें सामान्य ज्ञान था। ब्रजभूमि के निकट आगरे के निवासी होने के कारण ब्रजभाषा पर

लल्लूलाल
(सन् १७६३ से १८२५ तक)
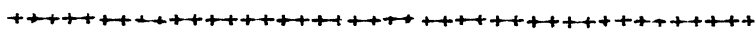
इनका अच्छा अधिकार था। परन्तु कलकत्ता विद्यालय के अधिकारी देश में खड़ी बोली के प्रचार से परिचित थे। उन्होंने यद्यपि उर्दू में भी पाठ्य-पुस्तकें तैयार करवाईं, तथापि उनका ध्यान मुख्यतः खड़ी बोली की तरफ़ ही रहा। वे जान गये थे कि जनता की भाषा का पद खड़ी बोली को ही प्राप्त है। इसलिए अपने कालेज के अध्यापक लल्लूलालजी से उन्होंने ऐसी ही भाषा में पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने को कहा।

'प्रेमसागर' में एक जगह 'विसका' शब्द आया है। इस शब्द से लेखक का आशय चतुर्भुजदासकृत भागवत दशम स्कंद के अनुवाद से है। लल्लूलाल संस्कृत के बड़े पण्डित नहीं थे, अतः उन्होंने इस अनुवाद का सार लेकर 'प्रेमसागर' की रचना की थी। इसका विषय एक प्रकार से साधारण कहानी मात्र है। इसलिए उनकी भाषा बोलचाल की होनी चाहिए थी। परन्तु 'यामनी भाषा' छोड़ने का जो प्रतिबन्ध उन्होंने लगा लिया था उसके फलस्वरूप दिल्ली, आगरे के आस-पास की खड़ी बोली अपनाने पर भी उन्होंने उसे अरबी फारसी के शब्दों से बचाने का पूरा प्रयत्न किया। यद्यपि 'प्रेमसागर' के अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल' आदि ग्रन्थ भी गद्य में ही लिखे; परन्तु अरबी-फारसी के शब्दों से बचने का जो प्रयत्न 'प्रेमसागर' में मिलता है वह उनके अन्य ग्रन्थों में नहीं। हाँ, संस्कृत के तत्सम शब्दों को उन्होंने सहर्ष अपनाया है। यही नहीं, भाषा खड़ी बोली रखने का निश्चय होने पर भी 'प्रेमसागर' में ब्रज-भाषा के रूपों की प्रधानता है। इसका कारण कदाचित इनका आगरा-निवासी होना हो। 'प्रेमसागर' की भाषा का नमूना यह है—

मणि का प्रकाश दूर से देख यदुवंशी खड़े हो श्रीकृष्णचन्द्रजी से कहने लगे कि महाराज, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा किए सूर्य चला आता है। तुमको ब्रह्मा, रुद्र, इंद्रादि सब देवता ध्यावते हैं और आठ पहर ध्यान धर तुम्हारा यश गावते हैं। तुम्हीं आदि पुरुष अविनाशी, तुम्हें नित सेवती हैं कमला भई दासी।

❀ ❀ ❀ ❀

निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय-बजाय, तांडव नाच-संगीत शास्त्र की रीति से गाय-गाय लगे रिझाने। —प्रेमसागर (सन् १८०३)

इस भाषा में अरबी-फारसी तत्सम शब्द ही नहीं, उर्दू के साधारण प्रचलित शब्दों का भी अभाव है। इससे भाषा में एक प्रकार की अस्वाभाविकता-सी आ गई है और वह गढ़ी हुई-सी जान पड़ती है। हाँ, बोलचाल की भाषा के यह भाषा रूप बहुत निकट हैं, यद्यपि 'हाराथका' जैसे प्रचलित पद भी 'प्रेमसागर' में अधिक नहीं मिलते हैं। ब्रजभाषा के शब्द-रूपों की तो इसमें प्रचुरता है, यथा, लिवाय, करवाय, खिलाय, लेजाय, सुख पाय, बुलाय के, तिनमें, बनाय आदि। संस्कृत के तत्सम शब्द भी इसमें पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए अनेक प्रकार, मन्दिर, सुन्दर, कंचन, रत्न, आकांक्षा, बचन, मुख आदि चुने जा सकते हैं। ब्रजभाषा के प्रयोग का एक कारण, आगरा-निवासी होना है। दूसरी बात जिसने इन्हें ब्रजभाषा के रूपों को अपनाने के लिए विवश कर दिया, वह है, विदेशी शब्दों से बचने की अभिलाषा। भाषा में अनुप्रास और तुकों की भी भरमार है। इनके प्रयुक्त होने का एक कारण तो ब्रजभाषा-कविता में इनके अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त होने की परिपाटी हो सकती है और दूसरा विदेशी-प्रणाली का अंधानुसरण। गद्य में अनुप्रास का प्रचलन फारसी से अरबी और तब उर्दू में हुआ था। संभव है, लल्लूलालजी इससे भी कुछ प्रभावित हुए हों। जो हो, इससे इतना तो मालूम ही होता है कि तत्कालीन हिंदी गद्य पद्य के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका था—कम-से-कम लेखक ने उसकी इस मुक्ति के लिये कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं समझी। मुहावरों का भी 'प्रेमसागर' की भाषा में अभाव ही समझना चाहिए।

भाषा की आलोचना

फोर्ट विलियम कॉलेज के दूसरे अध्यापक सदल मिश्र थे, जिनको गद्य की पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने को अधिकारियों ने आज्ञा दी थी। मिश्रजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने उक्त आज्ञा का पालन करने के लिए संस्कृत के 'नासि-

सदल मिश्र

(सन् १७६८ से १८४७ तक) केतोपाख्यान' नामक ग्रंथ के आधार पर यही नाम देकर एक ग्रंथ लिखा। इसकी भाषा का एक नमूना यह है—

जो नर चोरी आदि नाना भांति के कुकर्म में आप तो दिन-रात लगे रहते हैं तिस पर भी औरों को दूखते हैं, वो एक अच्चर भी जिससे पढ़ते हैं विसे गुरु के बराबर नहीं मानते हैं, सो तब तक महानरक को देखते हैं कि जब तक संसार बना रहता है। —नासिकेतोपाख्यान (सन् १८०३)

इनकी भाषा में व्रजभाषा के पंडिताऊपन सूचक तथा पूर्वी-बोली के रूप, यथा 'इहाँ', 'तिस पर', 'बिसे', 'जौन-जौन', 'जाननिहार', 'तिन की आज्ञा पाय', 'भतारी', 'बाजने लगी', आदि अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनकी वैसी प्रचुरता नहीं है जिनके कारण लल्लूलाल की भाषा पर दोष लगाया जाता है। तुकों और अनुप्रास से भी मिश्रजी ने अपनी भाषा को यथासंभव बचाया ही है। परतु लल्लूलाल की तरह अरबी-फारसी की छूत से बचने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। इन भाषाओं के साधारण प्रचलित शब्दों को तो उन्होंने अपनाया ही, साथ-साथ इंशाअल्ला खाँ ने भी अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में मुहावरों का प्रयोग किया था, परंतु मिश्रजी की भाषा में प्रचलित मुहावरों के प्रयोग में एक नवीनता मिलती है। खाँ साहब के मुहावरे मुख्यतः उर्दू के हैं; इसके विपरीत, मिश्रजी ने ठेठ हिंन्दी के मुहावरों—विपत्ति काटना, मलीन होना, गिड़गिड़ा कर कहना आदि—का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। व्याकरण के नियमों का पालन मिश्रजी ने कुछ अव्यवस्थित रूप से ही किया है। 'न' लगा कर बहुवचन भी उन्होंने बनाए हैं; जैसे, सबन, हाथन, कानन, प्रहसन और 'न्ह' लगा कर भी जैसे 'सबन्ह', 'फूलन्ह', 'सोनन्ह', कोटिन्ह', बहुतेरन्ह', आदि। 'ओं' भी कुछ बहुवचन-रूपों में मिलता है जैसे, सबों, ब्राह्मणों, औरें, नरकों, सेवकों, आदि। 'वो' और 'औ' जैसे प्रयोग भी इनके ग्रंथ में मिलते हैं।

तुलनात्मक आलोचना

ईसाइयों की हिंदी-सेवा
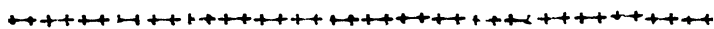
धर्म-प्रचार-कार्य को लेकर इसी समय ईसाई-पादरी भी हिंदी गद्य की उन्नति में सहयोग दे रहे थे। उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि अधिकांश भारतवासियों की व्यावहारिक भाषा प्रायः खड़ी बोली है। इसलिए इसी में उन्होंने अपने धर्म-प्रचार-कार्य के लिए बाइबिल का अनुवाद करना आरंभ किया। सन् १८०६ में विलियम केटे नामक पादरी द्वारा यह काम शुरू हुआ। इन्होंने बाइबिल का एक भाग 'नए धर्म-नियम' के नाम से प्रकाशित किया। ईसाई धर्म-संबंधी कुछ अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित की गईं। इन सबका उद्देश्य भी ईसाई धर्म फैलाना ही था। सन् १८१८ तक बाइबिल का पूरा अनुवाद प्रकाशित कर दिया गया। इन ग्रंथों की भाषा ठेठ खड़ी बोली थी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें व्रजभाषा के रूपों का तो अभाव-सा है, पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। बोलचाल के ठेठ शब्द भी इसमें बहुत मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधारण हिंदू जनता में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए ही ईसाई पादरियों ने ऐसी भाषा अपनाई थी। अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का भी बराबर इसमें प्रयोग किया गया है। जिस उद्देश्य को लेकर अपने कार्य में ईसाई पादरी प्रवृत्त हुए थे, उसकी पूर्ति के लिए ऐसा करना आवश्यक ही था। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि अरबी-फारसी को उन्होंने उसी सीमा तक स्वीकार किया, जहाँ तक हिंदू-जनता को अपने भाव समझाने के लिए आवश्यक था। ईसाइयों ने अपने धर्म-ग्रंथों की भाषा में उनका उतना ही प्रयोग किया था। इसका एक कारण यह था कि वे अपने मत का हिंदुओं में ही सरलता से प्रचार कर सकते थे। अँगरेजों के प्रादुर्भाव के पहले जब पुर्तगालियों ने अपनी शक्ति बढ़ा कर मुसलमानों में ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहा था तब वे अपने प्रयत्न में बुरी तरह असफल हुए थे। यही नहीं, आगे चल कर पुर्तगालियों का मुसलमानों में धर्म प्रचार-संबंधी प्रयत्न ही उनकी अवनति का एक कारण बन गया था। अँगरेजों ने इससे शिक्षा ली और समझ लिया कि अपने
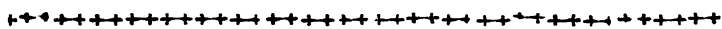
धर्म की कट्टरता में पले मुसलमानों में ईसाई धर्म फैलाने की गुंजाइश नहीं है। हिंदू एक तो स्वाभावतः धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध हैं; दूसरे उस समय साधारण हिंदू-प्रजा की अवस्था दयनीय थी। इससे लाभ उठाकर उन्हें आर्थिक प्रलोभन देकर, अपना धर्म फैलाने का लोभ ईसाई पादरी संवरण न कर सके। अपनी धर्म-पुस्तकों की भाषा उन्होंने जो अरबी-फारसी के अति प्रचलित शब्दों से युक्त हिंदुओं की व्यवहारोपयोगी ठेठ खड़ी बोली रखी, उसका यही कारण है।

बाइबिल के अनुवाद में 'करनी', 'बिमारी', 'अँगोछा', जैसे ठेठ खड़ी बोली के शब्द तो अवश्य हैं, परंतु 'भोजन', 'इच्छा', 'अनंत जीवन', 'आनंद', 'परमेश्वर', 'करुणा', 'कारण', 'प्रकाश', 'उदय', 'उत्तर', 'रीति', 'धर्म', 'तुरंत', 'जल', 'स्वर्ग', 'द्वार', 'ईश्वर', 'आत्मा', 'कपोत', 'आकाशवाणी', 'प्रियपुत्र', आदि संस्कृत के तत्सम रूपों की ही प्रधानता है। 'मजदूरी' जैसा एक-आध शब्द फारसी का भी मिलता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भाषा हिंदुओं की ही थी और इसका प्रचार बढ़ रहा था, परंतु एक प्रश्न यह होता है कि क्या ईसाई-पादरियों ने ही इस प्रकार की शुद्ध भाषा में अपने ग्रंथों के अनुवाद किए थे? हम तो यही समझते हैं कि किसी हिंदू विद्वान को पैसा देकर ही यह अनुवाद-कार्य कराया गया होगा।

(ग) प्रगति प्रस्तावना-काल

(सन् १८२५ से १९०० तक)

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिंदी गद्य के भावी विशाल वृक्ष का बीजारोपण किया गया। तैयार भूमि में पड़ा हुआ सामान्य बीज शक्ति-संचय करके अंकुरित होने के लिये कुछ समय चाहता है। गद्य-वृक्ष का बीज भी प्रस्फुटित होने के लिए लगभग ५० वर्ष तक शक्ति-संचय करता रहता। थोड़ा-बहुत कार्य जो इन ५० वर्षों में हुआ वह साहित्यिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय

गद्य की उन्नति के लिए आंदोलनों का सहारा

नहीं है। परन्तु उसका सम्बन्ध पिछले काल के कार्य से अवश्य है। उस समय गद्य में लिखने का कार्य मुख्यतः तीन ओर से—१—शिक्षा संस्थाओं की; २—ईसाई धर्म के प्रचारकों की; ३—स्वांतः सुखाय साहित्य-सेवा करने वालों की;—आरंभ हुआ था।

शिक्षा-प्रचार और हिंदी-गद्य

आरम्भ में हिंदी के शिक्षा-संबंधी पाठ्य ग्रन्थों की भाषा का आदर्श ईसाइयों द्वारा व्यवहृत ग्रामीण शब्दों की प्रधानता लिए खड़ी बोली मानी गई। उर्दू पढ़ने वाले लड़कों के लिए जो पुस्तकें तैयार की गईं उनकी भाषा में स्वभावतः अरबी और फारसी के शब्दों की प्रधानता थी। यह बात सन् १८३५ के लगभग की है, क्योंकि इसके तीन-चार वर्ष पहले से अँगरेजी स्कूल खुलने लगे थे और उनमें अँगरेजी के साथ-साथ हिंदी-उर्दू की पढ़ाई का नियमित प्रबंध किया गया था। अँगरेजी को शिक्षालयों में स्थान मिलने की लंबी कहानी है। सन् १७९७ में चार्ल्स ग्रांट के समर्थन करने पर सबसे पहले अँगरेजी ईस्ट इण्डिया कंपनी के डाइरेक्टरों ने विलायत से यह प्रस्ताव भेजा था कि अँगरेजी राज्यांतर्गत बसने वाले भारतीयों को अँगरेजी की शिक्षा दी जाय। उस समय अँगरेजी राज्य की नींव पड़ चुकी थी; लेकिन वह इतनी दृढ़ नहीं थी कि शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता। कुछ राजनीतिक कारण भी थे। इसलिए अँगरेज शासक यह उत्तरदायित्वपूर्ण भार अपने ऊपर लेने को तैयार न हुए और उक्त विचार स्थगित कर दिया गया। इसके कई वर्ष पश्चात् यह प्रस्ताव राजा राममोहनराय जैसे प्रतिष्ठित भारतवासियों द्वारा ही किया गया। फलतः कलकत्ते में अँगरेजी पढ़ाने के लिए एक हिंदू कॉलेज स्थापित हुआ। इसमें शिक्षा पाने वाले लोग ऊँचे पदों पर कंपनी में नौकर रखे जाने लगे। धीरे-धीरे जनता लोलुप-दृष्टि से इस ओर देखने लगी।

इस समय तक शिक्षालयों में संस्कृत और अरबी की पढ़ाई पर भी ध्यान दिया जाता था। दोनों भाषाओं के शिक्षालय अलग-अलग थे। जनता इन भाषाओं का सम्मान करती थी

शिक्षालयों में शिक्षा के माध्यम की समस्या

और सरकार भी थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता इन्हें देती है। जब अँगरेजी की शिक्षा का प्रबंध हो गया तब जनता और सरकार, दोनों का ध्यान इन भाषाओं की शिक्षा की ओर से हटने लगा। व्यावहारिक दृष्टि से ये उनके काम की थीं भी नहीं और उस समय प्रश्न व्यावहारोपयोगी भाषा का ही छिड़ा हुआ था। फल यह हुआ कि संस्कृत और अरबी की शिक्षा-संस्थाओं को जो सहायता और सुविधा प्राप्त थी वह धीरे-धीरे बंद हो गई। अब इन भाषाओं के पक्षपातियों को चेत हुआ। उन्होंने इसका पुनः सम्मान करने का प्रस्ताव पेश किया। परन्तु इनके हाथ में प्रस्ताव पेश करना मात्र था; मानना न मानना शासकों के अधिकार की बात थी। शिक्षा के माध्यम और भाषा के प्रश्न पर बहुत समय तक विचार किया गया। अन्त में ७ मार्च सन् १८३५ को मेकाले की कृपा से अँगरेजी को सर्वोच्च स्थान देने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। अँगरेजी स्कूल खुलना वस्तुतः इसी समय से आरम्भ होते हैं।

सन् १८३५ के लगभग आगरे और कलकत्ते में पादरियों ने एक-एक पुस्तक प्रकाशन संस्था 'स्कूल बुक सोसाइटी' के नाम से स्थापित की। इनका कार्य संभवतः जनता की प्रचारोपयोगी भाषा में पाठ्य

शिक्षा-संबंधी पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य

पुस्तकें लिखवा कर प्रकाशित करना था। हिंदी गद्य में विविध विषयों के ग्रंथ लिखने का आरंभ इसी समय से होता है। इन सोसाइटियों ने विविध विषयों की पुस्तकें प्रकाशित कीं। इस व्यवसाय में उस समय इन संस्थाओं को बड़ा लाभ हुआ। इसलिए आगरे और कलकत्ते की उक्त संस्थाओं की देखा-देखी कई प्रकाशन-संस्थाएँ और प्रेस खोले गये। इनमें इलाहाबाद का 'मिशन प्रेस' और मिर्जापुर का 'आरफेन प्रेस' मुख्य हैं। इन प्रेसों ने कई रीडरों के अतिरिक्त सन् १८५५ से ६५ तक भिन्न विषयों की बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित कीं।

प्रायः इन सभी की भाषा विशुद्ध हिंदी है जिस पर पंडिताऊ ढंग का भी यत्र-तत्र प्रभाव पड़ा है। उक्त ग्रन्थों में 'अत्युत्तम व्यवस्था', 'विरोध-भंजन', 'पक्षपातियों', 'क्षेत्र', 'कुलीनों', 'उपद्रव', 'प्रजा', 'पराक्रमी', 'उपाधियों', 'निष्कंटक', 'बुद्धिमान', 'अग्रगण्य', इत्यादि संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है; कहीं-कहीं 'की' और 'पाते' के स्थान पर 'करी' और 'पावतें' आदि शब्द मिलते हैं। परन्तु इन पुस्तकों से भाषा की व्यंजनाशक्ति बढ़ी हो, सो बात नहीं है। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि लोगों का ध्यान इन विषयों की ओर आकर्षित हो गया। साथ-साथ समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, न्याय, धर्म, चिकित्सा आदि अन्य विषयों से भी शिक्षित वर्ग का परिचय हुआ। इन नवीन विषयों की पुस्तकें लिखने का प्रयत्न उस समय इस कारण नहीं हो सका कि यह कार्य पादरियों तक पहुँच सकने वालों में ही सीमित था। फिर भी मार्ग-प्रदर्शन का कार्य तो पादरियों की कृपा से हुआ ही और इस तरह हिंदी गद्य की प्रगति का मार्ग भी खुला।

शिक्षा-ग्रन्थों की भाषा

सन् १८५६ में इंसपेक्टर होने पर राजा शिवप्रसाद ने हिंदी की पाठ्य पुस्तकें बनानी और बनवानी आरंभ कीं। इनकी भाषा उर्दू रहित बहुत सरल ठेठ हिंदी है जिसमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। 'राजा भोज का सपना' की भाषा ऐसी ही है। इसके कुछ समय पश्चात् लिखे 'मानव धर्म-सार' नाम की पुस्तक की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक ही हुआ है। 'राजा भोज का सपना' (सन् १८५८) की भाषा विशुद्ध हिंदी है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है, फारसी-अरबी के तत्सम शब्दों का नितांत अभाव है। हाँ, इरादा, दाग, दर्ज, जबान, आफत, मुल्क, तमाशा, खुशामद, जुल्म, तहकीकात, दुरुस्त, अर्से आदि प्रचलित शब्द इस पुस्तक में अवश्य मिलते हैं। गद्य-भाषा के विकास की दृष्टि से वर्तमान साहित्यिक गद्य का यह सूत्र

राजा शिवप्रसाद की प्रारंभिक भाषा

से प्राचीन और निकटतम रूप समझना चाहिए। 'दमयन्ती की कथा' और 'मानव धर्म-सार' आदि राजा साहब के निबन्धों की भाषा भी ऐसी ही है।

राजा साहब का भाषा-संबंधी आदर्श

परन्तु सन् १८६० के पश्चात् राजा शिवप्रसाद हिंदी-भाषा के इस विशुद्ध रूप के स्वयं विरोधी हो गए। अतः सन १८६० के पश्चात् उन्होंने जो पुस्तकें लिखीं अथवा लिखाईं उनकी भाषा अरबी-फारसी-प्रधान रखी। व्यावहारिक भाषा में अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्द अवश्य आएँगे, परन्तु ये शब्द गिने-चुने और प्रचलित ही होने चाहिएँ। सन् १८६० के पश्चात् राजा साहब ने अपने लिखे ग्रंथों में अरबी-फारसी के दो-एक शब्द न रख कर उन की प्रधानता कर दी है। अपने पूर्व ग्रंथों में संस्कृत शब्दों का जिस अनुपात में उन्होंने प्रयोग किया है प्रायः उसी अनुपात में उन्होंने वेदेशी शब्द रखे हैं। पूर्व ग्रंथों के 'संध्यावंदन', 'प्रभाव', 'स्तुति', 'वंदना', 'विनती-प्रार्थना', 'ईश्वर', 'सत्य', दीनबंधु', 'शुद्ध हृदय', 'निष्कपट', 'नम्रता', 'श्रद्धा', 'दुष्कर्म', 'पश्चात्ताप', आदि अनेक संस्कृत शब्द जितनी पंक्तियों में आए हैं, उतनी ही पंक्तियों में, 'जवान', 'कदर', 'कायम', 'बाकी', 'बेहतर', 'दरवाजा', 'हमेशा', 'बेशक', लफ्ज', 'मुल्क', 'दुनिया', 'मूजिब', 'नुकसान', 'मुनासिब', 'पुश्त', 'दर्मयान' आदि अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है। विदेशी शब्दों से इतनी लदी भाषा को जो हम हिंदी कह कर पुकारते हैं उसका कारण बीच-बीच में प्रयुक्त व्याकरण, भूमियों, असंभव, मनुष्य, धारा आदि दो चार संस्कृत शब्दों का प्रयोग है।

दूसरी बात यह है कि उन्होंने भाषा के केवल ब्राह्यरूप में ही परिवर्तन किया; आंतरिक रूप प्रायः पूर्ववत ही बना रहा—कारकचिह्न, विभक्तियाँ तथा क्रिया-रूप उनकी भाषा में हिंदी के ही हैं। अतः यदि हम इसमें प्रयुक्त उक्त विदेशी शब्दों के स्थान पर शुद्ध हिंदी के पर्याय-वाची शब्द रख दें तो अपने ठेठ वाक्य-विन्यास के कारण इनकी भाषा
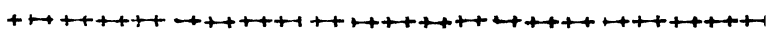
का नमूना भी शुद्ध हिंदी का ही हो जायगा। व्यावहारिक स्वाभाविकता की दृष्टि से यदि हम उनकी भाषा के दोनों रूपों की तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि उनके संस्कृत-प्रधान गद्य में जो प्रवाह है वह विदेशी शब्द-प्रधान गद्य में नहीं। कारण स्पष्ट है। राजा साहब केवल उन लोगों की भाषा का विरोध करना चाहते थे जो फारसी के प्रचलित शब्दों के स्थान में भी संस्कृत शब्द रखना आवश्यक समझते थे—

Who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our house-hold words from Hindi books and use in their stead Sanskrit words quite out of place and fashion.

अँगरेजी की ये पंक्तियाँ राजा शिवप्रसाद ने 'इतिहास तिमिर नाशक' भाग २ की भूमिका में सन् १८६४ में लिखी थीं। हम समझते हैं कि राजा साहब के इस कथन से सभी सहमत होंगे। यही बात उन्होंने 'भाषा का इतिहास' नामक निबंध में इस प्रकार लिखी है—

हम लोगों को जहाँ तक हो सके चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए जो आम-फहम और खास पसन्द हों। × × × और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिएँ और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए-नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ; जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरुरत न साबित हो जाय।

राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत, प्राकृत, ब्रजभाषा, अँगरेजी, फारसी, अरबी, बँगला तथा गुजराती भाषाओं का अध्ययन किया था। परन्तु हिंदी भाषा के गद्य-रूप के संबंध में उनके विचार आरम्भ से ही स्थिर थे। राजा शिवप्रसाद की संस्कृत-प्रधान भाषा के ये पक्षपाती थे; परन्तु सन १८६० के लगभग जब उन्होंने भाषा-संबंधी अपनी नीति बदली तब इन्होंने अपने मत की पुष्टि और रुचि के अनुसार शुद्ध हिंदी का प्रचार करने के लिए सन १८६२ में

राजा लक्ष्मणसिंह
(सन् १८२६ से
१८९६)
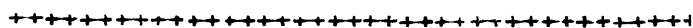
'प्रजा-हितैषी' नामक पत्र आगरे से प्रकाशित किया। इस पत्र में इन्होंने संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार कालिदास के सर्वश्रेष्ठ नाटक का हिंदी गद्य में अनुवाद किया। सन् १८६३ में यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद का बड़ा आदर हुआ। भारत में ही नहीं, बाहर भी सर्वत्र इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। सन १८७५ में फ्रेडरिक पिनकाट नामक अँगरेज ने इँगलैण्ड में इसे प्रकाशित किया और कई वर्ष तक यह सिविल सर्विस की परीक्षा में पाठ्य पुस्तक नियत रहा। 'शकुन्तला' के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के 'रघुवंश' का अनुवाद किया। इनकी भाषा के संबंध में राजा साहब के उन विचारों से कुछ प्रकाश पड़ता है जो उन्होंने रघुवंश' के गद्यानुवाद की भूमिका में इस प्रकार प्रकट किए हैं—

हमारे मत में हिंदी उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोली हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिंदुओं के बोलचाल की भाषा है। हिंदी में संस्कृति के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी फारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।

राजा साहब अपने इस सिद्धांत पर दृढ़ रहे। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुंतल' 'रघुवंश' और 'मेघदूत' का शुद्ध हिंदी अनुवाद किया है।

राजासाहब के अनुवाद, उनकी भाषा

इन तीनों ही ग्रंथों की भाषा प्रायः एकसी है। साधारणतः वह राजा शिवप्रसाद के पिछले ग्रंथों की भाषा के तो विरुद्ध है परन्तु पूर्व ग्रंथों की भाषा के अत्यंत निकट है। इसे उसका विकसित रूप भी कह सकते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राजा लक्ष्मणसिंह ने हिंदी के विशुद्ध रूप को अपनाकर भी अपनी भाषा को इतना संस्कृतप्रधान नहीं बनाया कि वह बोझिल और अनुपयुक्त हो जाय। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का आवश्यकतानुसार ही इन्होंने प्रयोग किया है। इससे भाषा में सरलता, सरसता और प्रवाह

के साथ-साथ स्वाभाविकता भी आ गई है। 'छिन' 'तौ' 'पत्याता' 'अनारी' आदि कटुतारहित शब्द भी उसमें मिलते हैं जो इनकी भाषा पर व्रजभाषा के प्रभाव के द्योतक हैं। राजा साहब व्रजभाषा-प्रांत के रहने वाले थे। कदाचित् उक्त प्रभाव का यही कारण है।

इस भाषा के संबंध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि इसमें अरबी-फारसी के शब्दों का – तत्सम ही नहीं, तद्भव शब्दों का भी— अभाव है। इसका कारण यही है कि राजा साहब फारसी-अरबी के शब्दों से रहित हिंदी भाषा लिखकर दिखा देना चाहते थे, राजा साहब की भाषा का उक्त विविध विशेषताओं के कारण विशेष सम्मान है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि जन-साधारण में प्रचलित शब्दों को भी स्थान नहीं दिया गया है। शब्दों के अपरिष्कृत प्राचीन रूपों को देखकर राजा साहब की भाषा में कुछ और दोष दिखाए गए हैं। हम उन्हें विशेष महत्व नहीं देते। हमारी सम्मति में तो राजा साहब ने ऐसी भाषा के क्रमशः विकसित रूप को पाठकों के सामने रखा है। जब हम देखते हैं कि आगे चलकर इसी भाषा के परिष्कृत रूप को साहित्यिक गद्य का पद प्राप्त हुआ तब हमें राजा साहब की भाषा का महत्व स्पष्ट ज्ञात हो जाता है और उनकी भाषा प्राचीन तथा नवीन गद्य भाषा का संबंध जोड़ती जान पड़ती है।

उनकी भाषा में विदेशी शब्दों का अभाव

कलकत्ते और संयुक्त-प्रांत में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ हिंदी गद्य की प्रगति हुई थी, उसी के अनुरूप कार्य पंजाब में भी हो रहा था। अंतर केवल इतना ही था कि कलकत्ते और संयुक्त-प्रांत में तो अधिकारियों की कृपा से उर्दू अपनी जड़ मजबूत बनाने लगी थी, परन्तु पंजाब में उसको अपने पैर फैलाने का अवसर उतनी सरलता से नहीं मिला। पंजाब में उन दिनों उर्दू के पक्षपातियों की कमी नहीं थी। वे लोग बड़ी तत्परता से अपनी भाषा का प्रचार करने में

पंजाब में शिक्षा-कार्य

संलग्न थे। साधारणतः अप्राकृतिक कार्यों की प्रतिक्रिया उतनी ही तीव्रता से होती है। यही बात यहाँ भी हुई। उर्दू के प्रति उसके बोलने-वालों का पक्षपात जितना ही बढ़ता गया, हिंदी भाषा-भाषियों में हृदयों में मातृ-भाषा-प्रेम उतने ही वेग से बढ़ने लगा। अन्त में शिक्षा-प्रचार को लेकर हिंदी और उर्दू का विरोध स्पष्ट रूप से सामने आया।

हिंदी के पक्षपातियों में सबसे प्रसिद्ध नाम बाबू नवीनचंद्र राय का है। संयुक्तप्रांत के राजा शिवप्रसाद की तरह पंजाब के शिक्षा-विभाग में ये भी अधिकारी थे। अतः शिक्षा-प्रचार, स्त्री-शिक्षा आदि में तो इनकी रुचि स्वाभाविक थी ही, समाज-सुधार के कार्यों में भी ये बराबर भाग लिया करते थे। ईसाइयों का धर्म-प्रचार बढ़ने पर इन्होंने उसका भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विरोध किया और बंगाल में प्रचलित राजा राममोहन राय के ब्रह्म-समाज के आदर्श और सिद्धांतों का वहाँ प्रचार किया। इन दोनों कार्यों—शिक्षा-प्रचार और ब्रह्मसमाज-सिद्धांत-प्रचार—के लिए इन्होंने अनेक पत्र-पत्रिकाएँ हिंदी में प्रकाशित कीं। 'ज्ञान-प्रदायिनी-पत्रिका' उन्होंने मार्च सन् १८६७ में प्रकाशित की थी। ज्ञान-वर्धक सामग्री के अतिरिक्त इसमें उक्त दोनों उद्देश्यो से संबंधित लेख भी रहते थे। इस कार्य के अतिरिक्त सन् १८६३ में इन्होंने विभिन्न विषयों की अनेक पुस्तकें हिंदी में तैयार की—कराईं। यह काम १७-१८ वर्ष—लगभग १८८० तक होता रहा। शिक्षा-विभाग में इन पुस्तकों का बड़ा आदर हुआ और तत्कालीन शिक्षालयों मे वे कई वर्ष तक पाठ्य ग्रंथों के रूप में पढ़ाई गई थीं।

बाबू नवीनचंद्र राय

बाबू नवीनचंद्रराय के हिंदी-प्रेमी सहायक मित्रों और लेखकों में पंडित सुखदयालु शास्त्री का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये पंजाब के प्राच्य महा-विद्यालय में अध्यापन कार्य करते थे। बाबू नवीनचंद्र की हिंदी-प्रीति से प्रभावित होकर इन्होंने भी कुछ ग्रंथ हिंदी में लिखे थे। 'न्याय-बोधिनी' नामक इनकी एक पुस्तक का जनता में

पंडित सुखदयालु शास्त्री

बड़ा सम्मान था। भाषा के रूप की दृष्टि से भी ये नवीन बाबू के ही समर्थक थे। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता इनके शुद्ध हिंदी-संबंधी प्रयत्न की द्योतक है। विन्यास की दृष्टि से इनकी भाषा में थोड़ी शिथिलता है। परन्तु संस्कृत-शब्दावली अपनाकर भी पंडिताऊ शैली से उसे मुक्त रखने में ये सफल हुए। अपने अनेक पण्डितों के सामने हम आज भी इनकी भाषा रख सकते हैं।

धर्म-प्रचार और हिंदी-गद्य

शिक्षा-प्रचार-कार्य के साथ धर्म-प्रचार भी हो रहा था। ईसाई भोले-भाले निर्धन वर्ग के हिंदुओं को भुलावा देकर और लोभ दिखाकर विधर्मी बना रहे थे। हिंदू-धर्म-सुधारकों ने इस कार्य का विरोध किया। इस धर्म-प्रचार और विरोध का सहारा पाकर हिंदी-गद्य उन्नति करने लगा। कारण, यह कि वाद-विवाद, खंडन-मंडन, उत्तर-प्रत्युत्तर, आक्षेप-कटाक्ष, वाद-प्रतिवाद के लिए गद्य की आवश्यकता होती और भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ती है। हिंदी गद्य को ही दोनों पक्षों ने उक्त कार्यों के लिए अपनाया, इसी में वाद-विवाद हुए, इसी में व्याख्यान दिए गए और पुस्तकें भी लिखी गईं। इस प्रकार गद्य की उन्नति का द्वार जैसे खुल गया।

सबसे पहले ईसाइयों के धर्म-प्रचार का विरोध बंगाल में हुआ। राजा राममोहनराय हिंदू-धर्म-रक्षकों के नेता बने। इन्होंने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना करके वेदांत और ब्रह्मज्ञान का अर्थ जनता को समझाने का प्रयत्न किया और सन् १८१५ में वेदांत सूत्रों के भाष्य का हिंदी में अनुवाद किया। चार वर्ष बाद 'बंगदूत' नाम का पत्र भी उन्होंने हिंदी में ही निकाला। उनके अनुयायियों ने भी उनकी तरह ही हिंदी को अपनाया। फलतः बंगाल में हिंदी-लेखकों की संख्या बढ़ने लगी।

हिंदू-धर्म रक्षा का प्रयत्न—राजा राममोहनराय

हिंदू-धर्म-रक्षा का दूसरा प्रयत्न सन् १८७५ में बंबई में 'आर्य-समाज' की नींव डाल कर किया गया। बहुत शीघ्र ही यह संस्था

द्वितीय प्रयत्न—
आर्य समाज और
स्वामी दयानंद

गुजरात, संयुक्तप्रांत और पंजाब में जन-प्रिय हो गई। स्वामी दयानंद सरस्वती (सन् १८२४-८३) के कार्यक्षेत्र में आते ही इस संस्था के कार्य ने प्रबल आंदोलन का रूप धारण कर लिया। इस अत्यंत साहसी महापुरुष ने निर्भय होकर शासकों द्वारा प्रत्यक्ष सहायता-प्राप्त ईसाई मिशनरियों का विरोध तो एक ओर किया और कट्टर धार्मिक मुसलमानों का दूसरी ओर। साथ-साथ उन पंडितों से भी शास्त्रार्थ और विरोध करते वे न थकते थे जो देश की स्थिति की ओर से आँख मूँदे हुए अपनी पुरानी लकीर के फकीर बने चलने में ही अपने धर्म की रक्षा समझते थे।

तत्कालीन हिंदी गद्य की उन्नति में भी स्वामीजी ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश', 'वेदांगप्रकाश', 'वेदों के भाष्य' इत्यादि ग्रंथ तो हिंदी में लिखे-लिखाए ही, साथ ही आर्य-समाज जैसी प्रगतिशील संस्था का सब काम हिंदी में ही करने का आदेश दिया। स्वामीजी हिंदी को भारत की व्यावहारिक भाषा और देश की भावी राष्ट्रभाषा होने योग्य समझते थे। उनके ग्रंथों में दो प्रकार की भाषा मिलती है। दोनों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है; परन्तु एक में अरबी-फारसी के कुछ शब्द भी मिलते हैं और दूसरे प्रकार में जैसे वे उनकी छूत से बचते रहे हैं। दूसरे प्रकार की भाषा का नमूना यह है—

जैसे बलवान होकर निर्बलों को दुख देते और मार भी डालते हैं, जो मनुष्य-शरीर पाकर वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य-स्वभाव युक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और स्वार्थवश होकर जो परहानिमात्र करता है वह जानों पशुओं का बड़ा भाई है।

यह अवतरण स्वामीजी की सन् १८८२ की भाषा का है। इसमें संस्कृत के अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग तो है; परन्तु अरबी-फारसी के शब्दों से भाषा को बचाया गया है। वस्तुतः स्वामीजी संस्कृत के
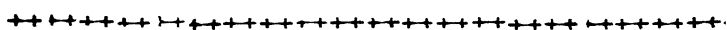
बड़े पक्षपाती थे। उन्होंने साधारण प्रचलित शब्दों को छोड़कर उनके तत्सम रूपों—जैसे 'सब' के स्थान पर 'सर्व'—का प्रयोग किया। यही नहीं, उनकी कुछ क्रियाओं में धातुओं के मूल रूप—जैसे 'किया', 'रखना' के स्थान पर 'करा', 'धरना'—भी मिलते हैं। इनकी व्यंजना-शैली की दूसरी विशेषता है प्रश्नवाचक वाक्यों की अधिकता, जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा बड़ी जोरदार और प्रभावोत्पादक हो गई है।

स्वामी दयानंद के अनुयायियों में पंडित भीमसेन शर्मा और पंडित ज्वालाप्रसाद ने हिंदी गद्य की उल्लेखनीय सेवा की है। शर्माजी

स्वामीजी के अनुयायी

भाषा की शुद्धता के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में उनका आदर्श यह है—'जो जाति स्वतंत्र भाषा का अभिमान रखती हो······उसके लिए अपनी भाषा को खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा सकती। अपने इस विचार पर वे सर्वत्र दृढ़ रहे हैं; यहाँ तक कि उन्हों· अरबी-फारसी शब्दों को भी संस्कृत रूप देकर—जैसे 'आस्मान' और 'बंदर' के लिये 'आसमान' और 'बंधुर'—लिखना आरंभ किया। पंडित ज्वालाप्रसाद का भाषा-संबंधी आदर्श स्वामी जी से मिलता-जुलता जान पड़ता है। पर वे अरब-फारसी शब्दों के शर्माजी की तरह विरोधी नहीं थे। इसी से उनकी भाषा में धार्मिक व्यक्ति की भावुकता के साथ सरलता और प्रवाह मिलता है।

आर्यसमाजियों ने मौलवियों और ईसाइयों के साथ सनातनी पंडितों का विरोध भी किया। सनातनियों को इस पर बुरा लगना

सनातन धर्म—पं० श्रद्धाराम

स्वाभाविक ही था। फलतः कई जगह आर्य-समाजियों के साथ इन्होंने शास्त्रार्थ किया और स्थान-स्थान पर व्याख्यान दिए। इसके लिये हिंदी-गद्य को ही अपनाया गया और यों उसकी उन्नति होने लगी। इस कार्य में उल्लेखनीय सहयोग पंडित श्रद्धाराम और पंडित अंबिकादत्त व्यास से मिला। पंडित श्रद्धाराम पंजाब के हिंदू-समाज के प्रधान माने जाते थे। हिंदी गद्य में लिखे इनके सात-आठ

ग्रंथ मिलते हैं जो प्रायः सभी धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों पर हैं। इनकी भाषा प्रौढ़ और साहित्यिक है। संस्कृत की इनकी तत्समता-प्रियता के संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि इन्होंने 'प्रश्न' को 'प्रष्ण' लिखा है। इनकी भाषा में पंजाबीपन का प्रभाव भी कहीं-कहीं मिलता है।

व्यासजी बड़े विद्वान, भारतेंदुजी के साहित्यिक मित्र और हिंदी-गद्य के प्रसिद्ध लेखक थे। इनकी लिखी पुस्तकों की संख्या सत्तर से ऊपर बताई जाती है। बिहार के साहित्यिकों में इनका बड़ा मान था और विद्वत्ता के कारण इन्हें अनेक उपाधियाँ प्रदान की गई थी। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने गद्य-रचना की विवेचना भी की है। 'इन्होंने', 'उन्होंने'के स्थान पर ये 'इनने', 'उनने' लिखा करते थे।

पंडित अंबिकादत्त व्यास

शिक्षा-प्रचार और धर्म-प्रचार के प्रश्नों से सर्वथा स्वतंत्र अथवा अंशतः संबद्ध रह कर हिंदी-गद्य की उन्नति के लिए प्रयत्न करने वाले व्यक्तियों की भी इस समय कमी नहीं थी। इस वर्ग के लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायन चौधरी, 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, जगमोहनसिंह, तोताराम, इत्यादि प्रमुख हैं। हिंदी-सेवा इनमें से अधिकांश के जीवन का प्रधान उद्देश्य था और प्रायः प्रत्येक ने दो-दो तीन-तीन पत्र-पत्रिकाएँ निकाल-निकलवा कर इसकी पूर्ति का सहराहनीय प्रत्यन किया था।

भारतेंदु के समकालीन साहित्य-सेवी

'आनंदकादंबिनी' (मासिक) और 'नागरी नीरद' (साप्ताहिक) पत्रों के संपादक बाबू बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की भाषा शुद्ध, परिमार्जित, सानुप्रास, चमत्कारयुक्त और शब्दालंकारों के भार से लदी है। इनके लंबे-लंबे प्रयास-पूर्ण वाक्यों ने लेखों को सर्व साधारण के लिए अबोधगम्य और साहित्यिकों के लिए हास्यपद बना

बाबू बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

दिया है। फिर भी गद्य को सजाने-सँवारने के आपके प्रयत्न ने भाषा को सुन्दरता अवश्य प्रदान की और सुन्दर शब्द-चयन ने उसे रोचक भी बना दिया है। 'भारत सौभाग्य' और 'वीरांगना-रहस्य' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

अरबी-फारसी के शब्दों को अपने समकालीन हिंदी-सेवियों से अधिक अपना कर भाषा को उपन्यास, नाटक जैसे रोचक विषयों के योग्य बनाने वाले श्रीनिवासदास की लेखन-शैली पर वाक्य-विन्यास के अँगरेजी ढंग का भी प्रभाव पड़ा है। मुहावरों का काफी प्रयोग करके इन्होंने अपनी भाषा का स्वाभाविक और चलती रखना चाहा है। इसी से इनके नाटकों और निबंधों की भाषा-शैली सरल, व्यवस्थित और सजीव है। 'परीक्षा गुरु', 'तप्ता संवरण' और 'रणधीर-प्रेम मोहिनी' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

श्री निवासदास

संस्कृत और अँगरेजी के सहृदय विद्वान् विजय राघवगढ़ के राजकुमार ठाकुर जगमोहनसिंह भारतेंदु के ऐसे साहित्यिक मित्र थे जिन्होंने हिंदी-गद्य की लेखन-शैली में काव्य की सरसता और मृदुता लाने का प्रयत्न किया। इसके लिए इन्हे साधारण प्रचलित शब्दों के साथ-साथ संस्कृत की तत्समता का आश्रय लेना पड़ा। बीच-बीच में यमक-अनुप्रास इत्यादि का प्रयोग करके अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति का परिचय देते हुए इन्होंने अपनी रचना-शैली को चमत्कारपूर्ण बनाना चाहा है। फलस्वरूप भाषा में प्रौढ़ता, परिमार्जन और शिष्टता होने पर भी कहीं-कहीं अप्रिय कृत्रिमता मिलती है। 'श्याम स्वप्न' भाषा-शैली की दृष्टि से इनकी सुंदर रचना है।

ठाकुर जगमोहन-सिंह

'स्त्री सुबोधिनी' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के लेखक अलीगढ़ के वकील बाबू तोताराम 'भारतबंधु' नामक पत्र का संपादन करते हुए भी भारतेंदुजी की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में समय-समय पर नाटक और विविध विषयों पर लेख लिखा करते थे।

बाबू तोताराम
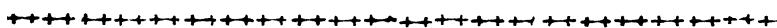
इनकी संचालित 'भाषा बर्द्धिनी सभा', अपने समय की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था थी। 'कंटी कृतांत', कीर्तिकेतु' और 'स्त्री-सुबोधिनी' इनकी अनुवादित और मौलिक रचनाएँ हैं। इनकी भाषा-शैली सरल है, जिसमें किसी प्रकार की नवीनता या विशेषता लाने का कोई प्रयत्न इन्होंने नहीं किया।

इस युग के शेष लेखक सर्वश्री केशवराम भट्ट, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या हैं, जिनमें अन्तिम दो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। गोस्वामी जी 'भारतेंदु' नामक पत्र के संपादक, अनेक बँगला ग्रंथों के अनुवादक और 'विदेश-यात्रा-विचार', 'विधवा-विवाह विवरण' इत्यादि मौलिक ग्रंथों के लेखक थे। पंड्याजी भारतेंदु-युग के प्रमुख पुरातत्ववेत्ता और इतिहासज्ञ थे। 'पृथ्वीराजरासो' की रक्षा के उद्देश्य से इन्होंने 'रासो संरक्षा' नामक प्रबंध लिखा था। साहित्यिक रुचि भी इनमें पर्याप्त थी और भारतेंदु जी की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के संचालन में भी ये निरंतर सहयोग दिया करते थे।

भारतेंदु-युग के अन्य लेखक

सारांश यह है कि भारतेंदु जी के समकालीन हिंदी-सेवकों ने गद्य की उन्नति के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया। प्रायः सभी प्रमुख साहित्यिकों के हाथ में उस समय एक-एक पत्र था और इसीलिये अपनी इच्छानुसार लिखने-पढ़ने को वे स्वतंत्र थे। जातीयता, धार्मिकता, और देश-प्रेम की भावना भी सब में समान रूप में वर्तमान थी और आज के से कोरे शिष्टाचार-प्रदर्शन का उसमें सर्वथा अभाव था। फलतः उन्होंने जो कुछ लिखा वह निडर होकर बड़ी जोरदार भाषा में और प्रभावोत्पादक ढंग से। इस युग का हिंदी गद्य जो बहुत सप्राण, सजीव और ओजपूर्ण मिलता है उसका कारण यही है।

भारतेंदु-युग में हिंदी-सेवा

इस युग के साहित्यिकों का दूसरा सराहनीय कार्य यह था कि धर्म, समाज और राजनीति इत्यादि दैनिक विषयों को छोड़ कर

स्त्री-शिक्षा, इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, विज्ञान, आयुर्वेद, दर्शन-शास्त्र आदि साहित्य के अंतर्गत समझे जाने वाले सभी प्रमुख विषयों की रचनाओं का सूत्रपात उन्होंने किया। कार्य बहुत अधिक था, परन्तु तत्कालीन प्रत्येक साहित्य-सेवी में उत्साह भी कम नहीं था और इसलिए उस समय के एक-एक व्यक्ति की साहित्य-सेवा एक-एक संस्था की सेवा के समान हो रही थी। नागरी-प्रचार और हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान आदि के प्रचारार्थ जो काम आज की अनेक संस्थाएँ कर रही हैं उससे कहीं अधिक वास्तविक कार्य उस समय के उक्त इने-गिने व्यक्तियों ने केवल पंद्रह-बीस वर्षों में कर लिया था। कोई नागरी का झंडा लिए फिरता था, कोई नित्यप्रति व्याख्यान दिया करता था और किसी-किसी ने इन कामों के लिए संस्थाएँ स्थापित कर भावी हिंदी-सेवकों को उत्साहित करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। हिंदी को अदालती भाषा बनाने के लिए भी अनेक प्रयत्न इस युग के साहित्यिकों और संस्थाओं ने किए। कोष-निर्माण-कार्य भी इस समय ही आरंभ हुआ, पुराने कवियों की रचनाओं की खोज और उनका प्रकाशन भी साहित्यिकों का एक लक्ष्य था। संस्कृत, अँगरेजी तथा भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं—विशेषकर बँगला—के प्रमुख ग्रंथों के अनुवाद का काम भी इन्होंने ही आरंभ कर दिया। संक्षेप में, इस युग की साहित्य-सेवा का महत्व इतने से ही समझा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिंदी-साहित्य की उन्नति के लिए जितने प्रकार के सम्मिलित प्रयत्न किए गए प्रायः उन सब का जन्म भारतेंदु-युग के साहित्य-सेवियों द्वारा ही हो चुका था। अतः प्रत्येक क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन का महत्वपूर्ण श्रेय इन्हीं को मिलना चाहिए।

भारतेंदु-युग के आरंभ होने तक हिंदी-गद्य का जन्म हो चुका था और शिक्षा-प्रचार, धर्म-प्रचार, समाज-धर्म-सुधार, देश-प्रेम और देशोद्धार आदि विषयों को लेकर गद्य में लिखने की परिपाटी भी आरंभ हो चुकी थी। प्रेस की सुविधा से तथा विभिन्न आंदोलनों का सहारा पाकर इस समय

भारतेंदु-युग में हिंदी गद्य

हिंदी-गद्य ने बहुत शीघ्र उन्नति की। कार्य इतना अधिक था और साधन इतने अल्प थे कि सभी क्षेत्रों में सुधार करने वाले व्यक्तियों को अपने सहयोगियों के विचार सुनने-समझने का अवकाश ही नहीं था, आवश्यकता भी नहीं थी। उन सबके सम्मिलित उद्देश्य की पुनीतता ही एक ऐसा विषय था जिसने उन्हें किसी भी रूप में सुधार-कार्य आगे बढ़ाते जाने पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित कर लेने को बाध्य कर रखा था। उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में बस कर दूर-दूर तक सुधार और देश-प्रेम की आवाज फैलाना ही इनका जीवन-लक्ष्य हो गया था। यही कारण है कि हिंदी-गद्य के जिस रूप को भी उस युग का साहित्य-सेवी अपनाता था प्रायः उसी के लिए उसे उत्साहित किया जाता था। दोष-पूर्ण, शिथिल और विदेशी भाषाओं से प्रभावित लेखन-शैली अपनाने वाले व्यक्ति को भी उस समय रोकने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी—वास्तव में थी भी नहीं। आलोचना का कार्य तो तब आरंभ होता है जब आलोच्य सामग्री तैयार हो जाय। उस समय भाषा-शैली के विविध रूप भी तो स्पष्टतः सामने नहीं आए थे और जो विविधता देख भी पड़ती थी वह सर्वथा विशेषतारहित नहीं थी; परन्तु यदि होती भी तो भाषा शैली की आलोचना से कहीं अधिक महत्व के कार्य उनके सामने थे जिनकी आलोचना से अपेक्षाकृत अधिक लाभ होने की संभावना थी। यही कारण है कि भारतेंदु-युग के प्रायः सभी साहित्यिकों ने मनमाने ढङ्ग पर हिंदी-रचना-शैली को अपनाया तथा अरबी-फारसी और अँगरेजी के शब्दों और लेखन-प्रणाली से प्रभावित किया। भाषा-रूप की दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इस युग में थोड़े परिवर्तन के साथ अपनायी गई, यद्यपि कुछेक ने राजा शिवप्रसाद का अनुकरण भी किया। इन दोनों रूपों का मध्यवर्ती एक तीसरा रूप भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने और प्रचलित किया जिसमें अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को भी समान अधिकार दिया गया था। आगे चल कर भाषा के इस रूप ने ही विशेष उन्नति की।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-काल में हिन्दी की अपूर्व उन्नति होने पर भी आज की दृष्टि से वह प्रस्तावना मात्र थी। उस समय भाषा, गद्य-शैली और हिन्दी-साहित्य, सभी क्षेत्रों में बहुत-सी कमियाँ रह गईं। इनमें मुख्य ये हैं—

आलोचना

(१) भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ—

(क) इन्हैं, मुझै, बातैं, जिस्से, इनने, उनने आदि अनेक अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करना कम न हुआ।

(ख) प्रांतीय शब्दों जैसे परग (पैर), भाँख (बोली) आदि का प्रयोग होता रहा।

(ग) ब्रजभाषा के प्रभाव से भी हिन्दी मुक्त न हुई।

(घ) व्याकरण-सम्बन्धी दोषों से रहित भाषा लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया। लोग मनमानी करते रहे।

(ङ) गंभीर विषयों के योग्य शब्दों की कमी बनी रही।

(२) शैली-सम्बन्धी त्रुटियाँ—

(क) प्राय: शैली का रूप अस्थिर ही रहा।

(ख) काव्योपम शैली में कृत्रिमता की मात्रा अधिक रही।

(ग) विराम चिह्नों का प्रयोग कम किया गया।

(३) विषय-सम्बन्धी त्रुटियाँ—

(क) लेख तो थोड़े-बहुत लिखे गए, परन्तु अनेक गम्भीर विषयों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

(ख) उपन्यास, कहानियाँ आदि सरल विषयों (light literature) के क्षेत्र में कुछ भी काम नहीं हुआ; केवल थोड़े से अनुवादों से ही काम चलाया गया। मौलिकता की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

(ग) आलोचना का क्षेत्र खाली पड़ा रहा। कह सकते हैं, साहित्य ही नहीं था तब आलोचना किस की होती; प्राचीन काव्य-साहित्य भी सुलभ न था।
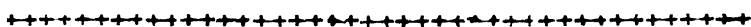
(४) सम्पादन कला-सम्बन्धी त्रुटियाँ—

(क) पत्र-पत्रिकाएँ थोड़ी ही निकलीं और जो निकलीं भी वे अधिक उन्नति नहीं कर सकीं। तत्कालीन सम्पादक सम्पादन-कला से अनभिज्ञ थे।

(ख) पत्र-पत्रिकाओं को विविध-विषय-विभूषित बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया।

ये सब, तथा इसी प्रकार की और भी कुछ कमियाँ रह जाने पर भी यह गर्व से कहा जायगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन हिन्दी-साहित्य-सेवियों ने हिन्दी के लिए बहुत ही सराहनीय उद्योग किया। भाषा-प्रचार-कार्य का आरम्भ तो उन्होंने किया ही, साहित्य-प्रासाद की नींव भी उन्होंने डाली और प्राचीन साहित्य के भाव लेकर अपनी रुचि के अनुसार, काल अथवा परिस्थिति का ध्यान रखते हुए, उसमें परिवर्तन करके मौलिकता की ओर भी संकेत किया।

हिन्दी-गद्य का प्रगति काल

(सन् १९०० से १९४० तक)

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। देश में अँगरेजी राज्य की जड़ अच्छी तरह जम चुकी थी; फिर भी शासितों के हृदयों में अँगरेजी शासन के प्रति श्रद्धा की अपेक्षा आतंक का भाव ही प्रबल था। सरकार इस मनोवृत्ति को बदलने का भरसक प्रयत्न कर रही थी; क्यों कि उसे अनुभव हो चुका था कि भारतीयों की संस्कृति में परिवर्तन किए बिना केवल तलवार के बल पर हम इन्हें अधिक दिनों तक अपने अधीन नहीं रख सकते।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में देश की दशा

शासक और शासितों की बीच की इस खाई को पाटने का काम अँगरेजी भाषा से लिया जा रहा था और लार्ड मेकाले की योजना के अनुसार यह सात समुद्र पार की भाषा हमारे देश के कोने-कोने में

अपने पैर पसार रही थी। शिक्षा का माध्यम भी यही होने से जितने शिक्षित निकले थे उनकी आँखें बिना अँगरेजी का चश्मा चढ़ाए संसार में कुछ देख ही न सकती थीं। इस प्रकार मेकाले की योजना आशातीत सफलता पा रही थी। हिन्दुस्तानियों के दिमागों पर अँगरेजी सभ्यता और संस्कृति का सिक्का अच्छी तरह जम रहा था। हमें 'स्वदेश', 'भारतीय', और 'हिन्दी' जैसे शब्दों से चिढ़-सी हो गई थी; हिन्दी-हिन्दू हिन्दुस्तान पर हमें किसी तरह का गर्व या मान नहीं रह गया था। हमारी चाल-ढाल पर भी विदेशीपन की छाप लगने लगी थी और हम मालिकों का अन्धानुकरण करने एवं उन्हीं के सिखाए गीत गाने में अपना गौरव समझने लगे थे। अपनी विशेषताओं से हम यहाँ तक उदासीन हो गए थे कि अपनी किसी वस्तु को हम तब तक अच्छा न समझते जब तक कोई विदेशी विद्वान उसकी प्रशंसा न कर देता। किसी देश के पतन की यह चरम सीमा कही जा सकती है।

सौभाग्यवश अँगरेजी और भारतीय सभ्यता के प्रथम संसर्ग का यह दूषित प्रभाव भारतवासियों पर अधिक काल तक न ठहरा। कुछ

तत्कालीन स्थिति और हिन्दी-साहित्य

ही समय पश्चात् हम अपनी संस्कृति और साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता का अनुभव करने लगे। देश में अनेक सुधारकों का जन्म हुआ और सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक-सभी प्रकार के आन्दोलन आरम्भ हो गए। इन आन्दोलनों और सुधारकों ने हिन्दी भाषा के पुनरुद्धार और प्रचार में बड़ा योग दिया; क्योंकि ऐसे आन्दोलनों के चलाने के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो भारतीय संस्कृति के अनुकूल होने के साथ ही साधारण जनता-द्वारा आसानी से समझी-बोली जाती हो। ऐसी भाषा हिन्दी ही हो सकती थी। परन्तु 'भारतेन्दु' के अस्त और 'प्रताप' के तिरोहित हो जाने पर हिन्दी साहित्य बिना पतवार की नौका की भाँति डगमगाने लगा। भाषा की अराजकता उस समय तक दूर नहीं हुई थी; व्याकरण की शुद्धता की ओर लेखकों का ध्यान नहीं था और

मौलिक साहित्य की सृष्टि का तो श्रीगणेश ही न हुआ था। उसका भण्डार संस्कृत और अँगरेजी के दो-एक ग्रन्थों और बँगला के अनुवादित कूड़े-करकट तक ही परिमित था। कहानियों और उपन्यासों का एक प्रकार से जन्म ही न हुआ था, पत्र-पत्रिकाएँ रोज निकलती और बन्द होती थीं। उनमें सम्पादक प्रायः अपने ही लेख भरा करते थे, या कभी-कभी कुछ तत्वहीन और चापलूसी से भरे लेख प्रकाशित हो जाते थे। समालोचना का नाम भर लोगों ने सुन लिया था; उसके वास्तविक अर्थ, उद्देश्य और आदर्श से वे अनभिज्ञ थे। हिन्दी के लेखकों ने उस समय अपने दल बना रखे थे जिनमें परस्पर प्रशंसा-प्रवृत्ति प्रधान थी। इनकी समालोचना का लक्ष्य लेखक था, पुस्तक नहीं। सारांश यह कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक न तो भाषा ही व्याकरण-सम्मत तथा सुव्यवस्थित हो पाई थी और न उसके साहित्य के अङ्ग की पूर्ति की ओर ही लेखकों का ध्यान गया था। इतिहास, विज्ञान, समाजवाद, धर्मनीति, राजनीति, पुरातत्व आदि विषयों पर केवल टिप्पणियाँ भर लिखी गई थीं जैसे इन्हें साहित्य के अन्तर्गत गिना ही नहीं जाता था। लेखक प्रायः निरंकुश थे; उनकी न कोई निश्चित शैली थी, न प्रणाली।

इस युग के प्रमुख लेखक

इसी समय हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण कार्य हुए—(१) सन् १८९३ में कुछ हिन्दी-प्रेमी युवकों ने, जिनमें बाबू श्यामसुन्दर दास और पण्डित रामनारायण मिश्र भी थे, काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की; (२) इस संस्था के कार्यकर्त्ताओं के प्रयत्न से सन् १९०० में इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सभा को काशी के अनेक उत्साही युवकों का सहयोग प्राप्त था और 'सरस्वती' का सम्पादन सन् १९०३ से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आरम्भ किया। इन सबके सदुद्योग से हिन्दी-प्रेमी लेखकों का एक बड़ा समूह भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हुआ। जिन लेखकों ने इस शताब्दी में गद्य की उन्नति में

विशेष सहायता दी है उनमें सर्वश्री गोविन्दनारायण मिश्र, माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र', रायकृष्णदास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, रामदास गौड़, इत्यादि का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। नीचे प्रत्येक लेखक की हिन्दी-सेवा और भाषा-शैली के सम्बन्ध में संकेतरूप में विचार किया जायगा।

पण्डित गोविंद नारायण मिश्र

संस्कृत, प्राकृत, पंजाबी, मराठी, बंगाली और गुजराती इत्यादि भाषाओं के विद्वान् और हिन्दी के प्रमुख निबन्ध-लेखक पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र की 'कवि और चित्रकार' (अपूर्ण) 'प्राकृत-विचार', 'सारस्वत-सर्वस्व', 'विभक्ति-विचार', 'आत्माराम की टें टें' (अपूर्ण) तथा 'षट्-ऋतुवर्णन' इत्यादि पुस्तकें उनकी स्पष्टवादिता, निर्भयता और विद्वता की परिचायक हैं। इनकी शैली संस्कृत की 'कादम्बरी' के गद्य-काव्य के ढंग की है जिसमें लम्बे-लम्बे समासांत पद, अनुप्रास, यमक के साथ-साथ विशेषणों का बाहुल्य है। भाषा भी तुकों की भरमार और पांडित्य-प्रदर्शन के बोझ से दबी है। फलस्वरूप पाठक को इनसे साहित्यिक आनन्द भले ही न मिले, लेखक के अगाध पांडित्य से वह अवश्य प्रभावित होता है।

पण्डित माधवप्रसाद मिश्र

ओजपूर्ण भाषा और प्रभावोत्पादक शैली में अनेक विद्वतापूर्ण निबन्ध लिखने वाले पण्डित माधवप्रसाद मिश्र संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड पण्डित थे। इनका अध्ययन ठोस और गम्भीर था। दर्शन-शास्त्र से इन्हें विशेष रुचि थी। अपने जीवनकाल में इन्होंने 'सुदर्शन' नामक मासिक पत्र का सम्पादन किया। यह पत्र प्रधानतः साहित्यिक था। समय-समय पर ये साहित्यिक और आध्यात्मिक विषयों पर सारपूर्ण लेख लिखा करते थे। भाषा इनकी बड़ी जोरदार है। बात यह है कि सत्य के समर्थन में आत्मा की

आवाज ऊँची हो ही जाती है। प्रश्नवाचक वाक्यों की अधिकता से इनकी लेखन शैली का पाठकों पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी-नवरत्न' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों के लेखक 'मिश्रबन्धुओं'—सर्वश्री गणेश विहारी, शुकदेव विहारी, और

मिश्रबन्धु

श्याम विहारी—ने इस युग के आरम्भ मे अपनी उक्त रचनाएँ प्रस्तुत करके बड़े धैर्य, अध्यवसाय और अध्ययन का परिचय दिया था। आज ये रचनाएँ विद्वानों में विशेष महत्व की न समझी जाने पर भी कुछ काल पूर्व हिन्दी के प्रायः सभी इतिहास लेखकों के लिए सहायक ग्रन्थों-सी थीं। भाषा इनकी सीधी-सादी और सुबोध है तथा शैली अनगढ़ और स्वाभाविक।

पण्डित अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

खड़ी बोली की कविता के क्षेत्र में भाषा के विविध रूपों में काव्य-रचना करके जिस कुशलता का परिचय इन्होंने दिया था, भाषा पर वैसा ही अधिकार 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास ग्रामीणता और उर्दूपन से सर्वथा-रहित प्रवाहपूर्ण स्वाभाविक गद्य में लिख कर दिखाया। इनकी भाषा प्रयासपूर्ण, आलंकारिक होने पर भी विशेषता रहित नहीं है। मुहावरों का अतिशय प्रयोग करने की तो इधर इन्हें जैसे धुन-सी लग गई है। 'कबीर बचनावली' की प्रस्तावना, 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' तथा अपने अन्यान्य निबन्ध इन्होंने संस्कृत की तत्समता से युक्त भाषा में लिखे हैं और शैली भी वैसी ही प्रयासपूर्ण है।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

स्वाध्याय और परिश्रम से संस्कृत, प्राकृत, डिंगल आदि प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने वाले महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भारतीय इतिहास के हिन्दू-काल और प्राचीन लिपियों के सबसे बड़े विशेषज्ञ हैं। प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री की खोज

का काम आप वर्षों से कर रहे हैं। सन् १८८८ में उदयपुर के राजकीय म्युजियम और पुस्तकालय के अध्यक्ष होकर इन्होंने यह काम शुरू किया था। अपनी खोज के आधार पर इन्होंने 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास', 'सिरोही राज्य का इतिहास', 'राजपूताने का इतिहास', 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति', 'प्राचीन वर्णमाला', आदि महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। इनमें द्वितीय और अन्तिम ग्रन्थ संसार के सभी प्रतिष्ठित इतिहासज्ञों में प्रशंसा पा चुके हैं और इन विषयों के इनसे अधिक प्रामाणित ग्रन्थ कदाचित् संसार की किसी भाषा में नहीं हैं। इनकी ऐतिहासिक वर्णन-शैली विषय के अनुकूल और प्रायः सर्वत्र सीधी-सादी है। भाषा भी सरल और सुबोध है।

पण्डित रामदास गौड़

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के जन्मदाता पण्डित रामदास गौड़ रसायनशास्त्र के एम० ए० थे। आरम्भ में आप काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में रसायन के अध्यापक थे; पर गांधी जी के राजनीतिक आन्दोलन से प्रभावित होकर इन्होंने नौकरी छोड़ दी। आगे चलकर यद्यपि उन्हें बड़े आर्थिक संकट में जीवन बिताना पड़ा, तथापि अपने दृढ़ राजनीतिक विचार उन्होंने नहीं बदले और अन्त तक सादा जीवन ही व्यतीत करते रहे। इन्होंने संस्कृत, फारसी, उर्दू, बँगला अँगरेजी आदि कई भाषाओं का अध्ययन किया था। ज्योतिष, धर्म शास्त्र और विज्ञान उनके प्रिय विषय थे। हिन्दी में अन्तिम की उन्नति के लिए उन्होने जिस लगन, उत्साह और साहस का परिचय दिया, उसे देख कर चकित हो जाना पड़ता है। प्रयाग में विज्ञान परिषद् की स्थापना, और 'विज्ञान' नामक मासिक का प्रकाशन उन्होंने इसी उद्देश्य से किया था। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर लिखे उनके लेखों की संख्या सौ के लगभग है। 'भारी भ्रम', 'विज्ञान-प्रवेशिका', 'स्वास्थ्य-साधन', 'रामचरित मानस', 'विज्ञान हस्तामलक', उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनकी वर्णन शैली सीधी-सादी और सुबोध, तथा भाषा सरल प्रयासरहित और स्वाभाविक है।
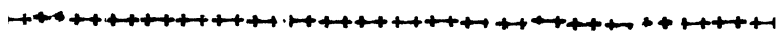
इन लेखकों के अतिरिक्त सर्वश्री गोपालराम गहमरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, गणेशशंकर विद्यार्थी, विश्वंभर-नाथ शर्मा 'कौशिक', माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, बद्रीनाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी, कृष्णकांत मालवीय, चतुरसेन शास्त्री, जी० पी० श्रीवास्तव, बालकृष्ण शर्मा, गुलाब राय, सुदर्शन, वृंदावनलाल, श्रीराम शर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, राम-कुमार वर्मा तथा अनेक अन्यान्य व्यक्ति भी गद्य के क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर चुके अथवा कर रहे हैं। साथ ही अनेक नवोदित लेखकों की भी प्रतिभा-प्रभा से आज का गद्य-साहित्य-संसार आलोकित हो रहा है। इन विद्वानों ने भारतेन्दु युग में हिन्दी गद्य से सम्बन्ध रखने-वाली त्रुटियों को दूर करके भाषा-प्रचार और साहित्य-सेवा की है; भाषा को व्याकरण के दोषों से मुक्त और शैली का रूप स्थिर करके इन्होंने शिक्षित समाज का ध्यान हिन्दी में साहित्य-रचना करने की ओर आकर्षित किया। इन लेखकों के कार्य का महत्व केवल इतने से समझा जा सकता है कि इस युग के आरंभ में हिन्दी-भाषा-भाषी अपने को हिन्दी जानने वाला कहते-लिखते शरमाते थे; आज यह संकोच दूर हो गया है। अब दैनिक आवश्यकताओं की प्रायः सभी बातों में हिन्दी का प्रयोग होने लगा है; हिन्दी और उसके साहित्य पर हम गर्व करने लगे हैं। भारत के कोने-कोने में उसका प्रचार हो गया है और आज समग्र देश की वह राष्ट्रभाषा समझी जाने लगी है। भाषा-प्रचार की दृष्टि से तो हिन्दी इस पद के सर्वथा उपयुक्त है ही, गंभीर और ठोस साहित्य की दृष्टि से भी उसे इस पद के योग्य बनाने की चेष्टा की जा रही है।

इस युग के अन्य लेखक और उनका सम्मिलित कार्य

बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में अनुवादों की प्रधानता रही। पश्चात्, मौलिक साहित्य-सृजन का प्रयत्न किया जाने लगा। अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं; अनेक

साहित्यिक युद्ध हुए। अन्त में अनवरत परिश्रम और अध्यवसाय के फलस्वरूप रचनाओं में मौलिकता का समावेश करने के लिये पर्याप्त अध्ययन और मनन की आवश्यकता समझी गई। विविध विषयों को अब साहित्य के अन्तर्गत माना जाने लगा और सभी के छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, गद्य-काव्य, समालोचना इत्यादि गद्य-साहित्य के प्रमुख अंगों की दिन-प्रति उन्नति होने लगी। इनके विकासक्रम की संक्षिप्त आलोचना से हिन्दी गद्य-साहित्य की वर्तमान स्थिति और आवश्यकताओं का ठीक ठीक परिचय मिल सकेगा।

गद्य-साहित्यांगों का विकास

(क) उपन्यास

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के समय से हिन्दी में आधुनिक ढग क उपन्यास लिखने का सूत्रपात हुआ। तत्कालीन लेखकों ने एक ओर तो उपन्यासों से समृद्ध बँगला साहित्य से परिचय प्राप्त किया और दूसरी ओर अँगरेजी से। इन भाषाओं के उपन्यास मनोरंजन की दृष्टि से तो उत्तम थे ही, कला के नाते भी श्रेष्ठ समझे जाते थे। इससे परिचय प्राप्त करके हिन्दी लेखकों का एक दल तो इन भाषाओं की रचनाओं का अनुवाद करने में लग गया और दूसरा उन्हीं का अनुकरण करके मौलिक रचनाएँ तैयार करने में। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, इत्यादि लेखकों ने बँगला, अँगरेजी और उर्दू के अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया। अँगरेजी और बँगला लेखकों का अनुकरण करके मौलिक उपन्यास लिखनेवालों में 'परीक्षागुरु' के लेखक श्री निवासदास, 'निस्सहाय हिन्दू' के लेखक राधाकृष्णदास और 'नूतन ब्रह्मचारी', तथा 'सौ अजान एक सुजान' के लेखक बालकृष्ण भट्ट प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी-उपन्यासों का प्रथम विकास (सन् १८५० से १९००)

इन लेखकों की अनुवादित और मौलिक रचनाओं से इतना लाभ

अवश्य हुआ कि आगे के हिन्दी लेखकों को समकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य समस्याओं पर विचार करने का एक मनोरंजक ढंग ज्ञात हो गया। बँगला और अँगरेजी उपन्यास-साहित्य के अध्ययन से स्वतंत्र और मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करने की प्रेरणा भी मिली।

द्वितीय विकास-काल १६०० से १६२० तक

हिन्दी उपन्यासों के विकास का द्वितीय युग बाबू गोपालराम गहमरी के अनुवादों से आरंभ होता है। इनके अतिरिक्त उदितनारायण, ईश्वरीप्रसाद शर्मा और रूपनारायण पांडेय ने बँगला के अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया। यहाँ तक कि बंकिमचंद, रमेशचंद्रदत्त, चंडीशरण सेन, शरत् बाबू कवीन्द्र, रवीन्द्र इत्यादि बँगला के सभी प्रमुख उपन्यास लेखकों की सुन्दर रचनाएँ हिन्दी में ही प्राप्त हो गईं। अन्य अनुवादकों में गंगाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' और रामचंद्र वर्मा ने मराठी 'छत्रसाल' का अनुवाद किया। गुजराती की कई रचनाएँ भी हिन्दी में अनूदित की गईं और अँगरेजी के अनुवादित उपन्यासों में 'लैला', 'लंडन रहस्य', और 'टामकाका की कुटिया' का नाम उल्लेखनीय है।

इस युग के मौलिक उपन्यास-लेखकों में देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता और ब्रजनंदनसहाय का नाम प्रसिद्ध है। खत्रीजी ने 'नरेन्द्रमोहिनी' 'कुसुमकुमारी', 'वीरेन्द्रवीर', 'चंद्रकान्ता' और 'चंद्रकान्ता-संतति' आदि तिलस्मी और ऐयारी घटना-प्रधान उपन्यास लिख, साधारण मनोवृत्ति के बहुत से पाठक पैदा कर काफी नाम और पैसा कमाया। गोस्वामी जी का कार्य साहित्यिक दृष्टि से खत्रीजी से श्रेष्ठ है। 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी', 'रजिया बेगम', 'लीलावती', 'लवंगलता', 'हृदयहारिणी', 'लखनऊ की कब्र', इत्यादि इनके लगभग ६५ उपन्यासों में सजीव सामाजिक चित्र तो मिलते ही हैं, वर्णन भी चमत्कारपूर्ण और चरित्र-चित्रण स्वाभाविकता लिए हुए है। इनके कुछ उपन्यास ऐतिहा-

सिक भी हैं। उपाध्यायजी ने भाषा के नमूने दिखाने के लिये 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल' और 'वेनिस का बाँका' नाम के उपन्यास लिखे। मेहताजी की रचनाएँ 'धूर्तरसिकलाल', 'हिन्दू गृहस्थ' 'आदर्श दंपत्ति', 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श-हिन्दू' आदि हैं और सहायजी की 'सौंदर्योपासक' और 'राधाकान्त'।

हिन्दी उपन्यासों के तृतीय विकासकाल की विशेषता यह है कि अनुवाद रूप में दूसरी भाषाओं का कूड़ा-करकट हिन्दी में जमा करने की प्रवृत्ति का प्रायः अन्त हो गया। प्रथम और द्वितीय काल में तो अनुवादक जो उपन्यास पढ़ते या पा जाते थे उसी का उल्था हिन्दी वालों के सामने रखना वे अपना कर्तव्य समझते रहे; परन्तु इस काल में अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, जापानी आदि विदेशी तथा बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं के प्रायः श्रेष्ठ उपन्यासों के ही अनुवाद हुए। सीधे अनुवादों के अतिरिक्त इन भाषाओं के उपन्यासों के आधार पर कुछ पुस्तकें स्वतंत्र रूप से भी लिखी गईं। इस संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि बम्बई के 'ग्रंथरत्नाकर-कार्यालय' ने 'शरत्-साहित्य' के नाम से बँगला के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक शरच्चंद्र की समस्त रचनाओं का जिस प्रकार हिन्दी में प्रचार किया है, देशी-विदेशी अन्य सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं को उसी प्रकार हिन्दी-संसार के सामने रखने से अनुवादकों और प्रकाशकों का कार्य सराहनीय समझा जायगा।

तृतीय विकासकाल
१६२- से अब तक

इस युग में मौलिक उपन्यासों की संख्या अनुवादकों से अधिक है। वस्तुतः भाषा को अनुवादों पर नहीं, अपनी मौलिक रचनाओं पर ही गर्व होता है। प्रेमचंद इस युग के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' इत्यादि उनके उपन्यास हिन्दी-साहित्य की अमूल्य और स्थायी निधि हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली', विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक के 'माँ' और 'भिखारिणी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा',

'विकास' और 'विजय', वृंदावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी', भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा', चतुरसेन शास्त्री के 'परख' और 'हृदय की प्यास', जैनेन्द्रकुमार के 'तपोभूमि' और 'सुनीता', राजा राधिकारमणसिंह के 'रामरहीम', 'सूरदास' और 'टूटा तारा', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'बुधुआ की बेटी' इत्यादि उपन्यास इस युग की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक लेखकों ने भी दो-दो एक-एक उपन्यास लिखे हैं जिनसे हमें उनके उज्ज्वल भविष्य का पता लगता है।

इस युग के यह मौलिक उपन्यास प्रायः उन सभी विशेषताओं से युक्त हैं जिनके लिये विदेशी रचनाएँ श्रेष्ठ समझी जाती हैं। इन उपन्यासों ने हिंदी पाठकों की रुचि का परिष्कार किया है। कौतूहलवर्धक कोरी घटना-विचित्रता से युक्त ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के स्थान पर हिंदी पाठकों का एक वर्ग सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक समस्याओं पर लक्ष्य रखने वाले इन उपन्यासों का प्रेमी हो गया है। चारित्र्य - विवेचना, कथोपकथन की स्वाभविकता और प्रभावोत्पादकता, अंतर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति और अंतर्भावों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या आदि विशेषताओं से युक्त होने के कारण हिंदी के उक्त उपन्यासों में से अनेक विश्व-उसन्यास-साहित्य में ऊँचा स्थान पा सकते हैं।

हिंदी उपन्यासों का भविष्य

हिंदी उपन्यासों के संबंध में एक निवेदन करना है। इसमें संदेह नहीं कि हमारे उपन्यास लेखकों में सहृदयता और कल्पना की प्रचुरता के साथ वह अंतर्दृष्टि भी विद्यमान है जो उपन्यास को सफल और लोकप्रिय बनाने के लिए अपेक्षित है, तथापि हमारे अधिकांश नवोदित उपन्यास-लेखक कल्पना के सहारे पूर्व कृतियों में वर्णित समस्याओं को ही हेर-फेर के साथ अपनाकर प्रेम की उन्हीं वृत्तियों और अंतर्दशाओं के भद्दे चित्र, स्वाभाविकता और यथार्थवाद के नाम पर खींच रहे हैं जिनके लिए हिंदी-कविता किसी समय बदनाम हो चुकी है। पैनी

अभिदृष्टि के स्वतंत्र उपयोग की सद्भावना के अभाव के साथ-साथ समकालीन समस्याओं के स्वतंत्र अध्ययन और मनन की भी हमारे नवोदित उपन्यास लेखकों में कमी है। उन्हें ध्यान रखना होगा कि केवल महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या अपना लेने से ही उपन्यास सफल या लोकप्रिय नहीं हो जाता और आज हिंदी के शिक्षित पाठक देशी विदेशी लेखकों के अनुकरण मात्र—जूठन से—संतुष्ट भी नहीं हो सकते। अतः नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर ही उन्हें प्रसिद्ध प्राप्त हो सकती है।

(ख) कहानी

अँगरेजी का प्रचार पहले-पहल उत्तरी भारत के बंगाल प्रांत में हुआ था। अतः उसी प्रांत के निवासियों को अँगरेजी साहित्य के संपर्क में आने का सबसे पहले अवसर मिला। उन्होंने इससे पूरा लाभ उठाया और बहुत शीघ्र वे उसी का अनुकरण करके अपने साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हुए। वर्तमान पाश्चात्य ढग से कहानी लिखना भी बँगला में ही आरंभ हुआ। वहाँ छोटी-छोटी कहानियों को 'गल्प' का नाम दिया गया। आरंभ में तो बँगला लेखक केवल कल्पित विषयों पर ही कहानियाँ लिखा करते थे, पर आगे चल कर विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सामयिक विषयों एवं समस्याओं पर कहानियाँ लिखी जाने लगीं। हृदय के मनोभावों को लेकर भाव और द्वंद्व-प्रधान कहानियाँ लिखना भी इन लोगों ने आरम्भ कर दिया।

बँगला में कहानी का आरंभ

बँगला साहित्य में कहानी की इस उन्नति का प्रभाव हिंदी के लेखकों पर भी पड़ा। यों तो 'रानी केतकी की कहानी' हिंदी में सबसे पहली समझी जाती है, पर उसका महत्व कहानीकला की दृष्टि से न हो कर भाषा के विचार से ही अधिक है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन अनेक हिंदी-साहित्य-सेवियों ने भी कहानी लिखने की

हिंदी में कहानी का प्रथम विकास (१६०० से १५ तक)

ओर ध्यान अवश्य दिया; पर उनके विषय में भी उक्त कथन ही अधिकांश में सत्य है। हाँ, जब सरस्वती का संपादन-कार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सम्हाला, तब 'इंडियन प्रेस' के प्रबंध-कर्ता बाबू गिरिजा कुमार घोष ने लालापार्वती-नन्दन के नाम से हिंदी में कुछ कहानियाँ लिखीं। घोष बाबू बंगाली थे। अतः उनके विचारों पर बँगला कहानी-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। फिर भी उन्होंने पथ-प्रदर्शन का कार्य अवश्य कर दिया और बहुत शीघ्र ही 'सरस्वती' में ही नहीं हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं।

हिंदी के मौलिक कहानी लेखकों में स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इस समय इनकी कहानियों की संख्या दो सौ से ऊपर है। क्या कला दृष्टि से और क्या उपयोगिता की, इनकी कहानियाँ बड़ी उच्चकोटि की हैं। कह सकते हैं कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे-छोटे काव्यग्रंथों का हिंदी पाठकों में जितना प्रचार है, उतना ही प्रेमचन्द जी की कहानियों का। कुछ आलोचकों का तो अनुमान है कि इनकी कहानियों में इनके उपन्यासों से अधिक मार्मिकता हैं। प्रभाव की दृष्टि से भी उनका महत्व कम नहीं है। हमारे वर्तमान कहानी लेखकों की दृष्टि विषय चुनने के लिए प्रायः मध्यश्रेणी पर ही रही है। प्रेमचन्द जी की रचनाओं का प्रधान विषय ग्राम्य समस्या है और मध्यम श्रेणी के जीवन की तुलनात्मक झाँकी भी हमें उनकी रचनाओं में मिलती है। सारांश यह कि यों तो विषय की दृष्टि से जीवन की सभी स्थितियों के दर्शन इनके कथानकों में होते हैं; सभी श्रेणी के पात्रों का चरित्र-चित्रण इन्होंने सफलतापूर्वक किया है और अनेकानेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की मनोरंजक विवेचना की है, तथापि मानव मात्र

द्वितीय विकास (१६१५ से ३५) (प्रेमचन्द)

के हृदय को स्पर्श करने वाले मनोभावों का जो सरल, भावपूर्ण और द्वंद्वयुक्त दिग्दर्शन इन्होंने कराया है वह हमारे कहानी लेखकों के लिए अभी अनुकरण की चीज है। प्रेमचन्द जी ही हिंदी के ऐसे प्रथम कहानी-उपन्यास लेखक हैं जिनकी साहित्यिक और मौलिक कृतियों का उर्दू, मराठी, गुजराती जापानी, बँगला, अँगरेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अब तक हमने इन भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया था। कह सकते हैं कि प्रेम-चन्द जी ने इस ऋण को अदा करने की ओर कदम बढ़ाया था।

प्रेमचन्द जी के बाद हिंदी के श्रेष्ठ कहानी लेखकों में पहला नाम स्वर्गीय बाबू जयशंकरप्रसाद का है। इनकी बहुमुखी प्रतिभा के कारण

'प्रसाद' जी की कहानियाँ

हिंदी के प्रायः सभी विद्यार्थी इनसे परिचित हैं। हिंदी की सबसे पहली मौलिक कहानी इन्हीं की बताई जाती है जो सन् १६११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। इन्होंने ५० से ऊपर कहानियाँ लिखीं जो 'छाया' 'प्रतिध्वनि', 'नवपल्लव', 'आँधी', 'आकाश दीप' आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। इनकी कहानियों की प्रधान विशेषता है उच्चकोटि का भाव-पूर्ण घात-प्रतिघात और द्वंद्व। अपनी कहानियों का विषय आरम्भ में तो ये सीधा-साधा रखते हैं; परन्तु विकास के साथ-साथ वह ऊपर उठता और अन्त में गम्भीर दार्शनिकता की कोटि में पहुँच जाता है जिसकी ओर साधारण पाठक की दृष्टि जाती तो है; परन्तु वह मंत्र-मुग्ध-सा उस ओर देखता रह जाता है; स्वयं वहाँ तक पहुँचने की कल्पना भी नहीं करता।

हिंदी के वर्तमान प्रतिष्ठित कहानीकारों में सर्व श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', रायकृष्णदास, 'सुदर्शन', पांडेय

आधुनिक काल (१६३५ से)

बेचन शर्मा 'उग्र', जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन, सत्यजीवन वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, मोहनलाल महतो, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला',

श्रीनाथसिंह वाचस्पति पाठक, यशपाल, रामशरण 'पहाड़ी' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन लेखकों के सम्मिलित उद्योग का फल यह हुआ है कि कला की दृष्टि से हिंदी नाटकों और उपन्यासों से कहानी साहित्य-भण्डार अधिक पुष्ट और भरापूरा है। इसका प्रधान कारण यह है आरम्भ से ही इस क्षेत्र में अनुवाद और मौलिक सृष्टि साथ साथ ही होती रहती है। इस क्षेत्र में काम करने वाले उक्त लेखकों को अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता मिली है और इनकी कुछ कहानियाँ विश्व साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में समझी जाती हैं।

(ग) नाटक

हिंदी-नाटक की प्रगति के सम्बन्ध में प्रथम ज्ञातव्य बात यह है कि इसका विकास लगभग पिछले सौ वर्षों में ही हुआ। इसके पहले कुछ नाटक लिखे अवश्य गए, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से महत्व के न होने के कारण उनका विशेष प्रचार न हुआ। हाँ, इन नाटकों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार हिंदी-साहित्य अन्य विषयों में संस्कृत-साहित्य से निसंकोच सहायता लेता रहा उसी प्रकार प्राचीन नाटकों के आधार पर नाटक भी रचे गए। अभिनय की चिन्ता से मुक्त रहने के कारण अपने अनुभावों को कवियों और लेखकों ने मनमाना रूप दिया। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लिखे नाटक अधिकांश में पद्यमय हैं; कुछ में तो प्रस्तावना-रूप में भी गद्य के दर्शन नहीं होते। हाँ, उन्नीसवीं शताब्दी में रचे गए नाटकों में गद्य अवश्य मिलता है।

सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के नाटक

नाट्यकला की दृष्टि से इन शताब्दियों के नाटकों में केवल 'आनंद रघुनंदन' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का नाम उल्लेखनीय है। शेष नाटक बहुत साधारण हैं और नाटकीय तत्वों का उनमें अभाव है। वास्तव में नाटक के तत्वों का अध्ययन करके अपनी रचनाओं में उनका समावेश करने का आरम्भ भारतेंदु के समय से हुआ। इनका रचना-

नाटक का प्रथम विकास—भारतेंदु के नाटक

काल सन् १८६८ से आरंभ होता है। नाटक-रचना की प्रेरणा इन्हें नाटकों का अभिनय देखने पर मिली। अपने १७-१८ वर्ष के साहित्यिक जीवन में इन्होंने लगभग इतने ही नाटक लिखे। इनका सबसे पहला नाटक 'विद्यासुन्दर' इसी नाम की एक बंगाली रचना का अनुवाद है। संस्कृत अनुवादों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'करपूरमञ्जरी' और 'रत्नावली' सुन्दर हैं। प्रथम तो कई दृष्टियों से मौलिक जान पड़ता है। अँगरेजी नाटकों में इनका शेक्सपियर के 'मरचेंट आव वेनिस' का अनुवाद अच्छा हुआ है। इनकी मौलिक नाटक-कृतियों में 'चन्द्रावली' और 'नीलदेवी श्रेष्ठ हैं। उद्देश्य-विशेष से लिखे हुए ओजपूर्ण नाटकों में 'भारतदुर्दशा' बहुत प्रभावशाली है। भाषा के अतिरिक्त इनके नाटकों की विशेषता थोड़े परिवर्तन के पश्चात् इनका अभिनय-योग्य हो सकता है। इनकी शैली में प्राचीन भारतीय नाटक-तत्वों और नवीन पाश्चात्य नियमों का सामंजस्य-सा मिलता है। संस्कृत के तत्वों का अध्ययन तो इन्होंने थोड़ा-बहुत मूल ग्रंथों के आधार पर किया था; किन्तु पाश्चात्य का बँगला के द्वारा। फल यह हुआ कि पाश्चात्य और भारतीय परंपरा जिस अनुचित अनुपात के सम्मिलित रूप में बंगाल में प्रचलित थी वही भारतेंदु भी अपना सके। इस दृष्टि से यह सत्य है कि भारतेंदु के नाटकों पर बंगीय नाट्य साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा।

भारतेंदु की नाट्य-कला

भारतेंदु के नाटक प्रायः पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक हैं। इनमें उन्होंने समाज और देश की तत्कालीन गिरी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया है। इनका कथा-संगठन सफल कहा जायगा। इस सफलता की कसौटी यह है कि कथानक के विकास के लिए एकत्र की हुई मुख्य और प्रासंगिक घटनाओं का उतना ही विवेचन किया जाय जितना विषय को स्पष्ट करने और स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हो। भारतेंदु के नाटकों में यद्यपि कहीं-कहीं उद्देश्य-विशेष से कथोपकथन कुछ लंबे-लंबे भाषणों के रूप में हो

गए हैं तथापि उनमें शिथिलता नहीं है। इसका एक कारण यह है कि उन्होंने लकीर के फकीर न बन कर सर्वत्र उचित स्वतंत्रता से काम लिया। अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारतेंदुजी ने मानसिक द्वंद्व की व्याख्या की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना सामान्य आदर्श-दिग्दर्शन करने की ओर। हरिश्चंद सत्य का आदर्श व्रती है, शैव्या आदर्श पतिव्रता है, 'नीलदेवी' का नायक सूर्यदेव सच्चा वीर राजपूत है, रानी नीलदेवी भी वीरता की दृष्टि से आदर्श है और 'चंद्रावली' नाटिका की चंद्रावली का प्रेम भी आदर्श और सत्य ही है।

सारांश यह कि नाटकों के प्रथम विकास-काल में भारतेंदु अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफल रहे। उनके समकालीन कुछ साहित्य सेवियों ने,

भारतेंदु के सहयोगी

जिनमें प्रताप नारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, तोताराम, काशीनाथ खत्री आदि मुख्य हैं, भारतेंदु का अनुकरण करके अनेक मौलिक और अनुवादित नाटकों की रचना की। कथानक के संगठन, विषय की नवीनता और चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में इन लेखकों का आदर्श भी उन्हीं से मिलता-जुलता था। इस युग के उक्त साहित्य-सेवियों के सम्मिलित उद्योग से हिंदी नाटक-साहित्य में केवल इतना कार्य हुआ कि हिंदी-लेखक इस ओर आकृष्ट हो गए। भारतेंदु ने संस्कृत और बँगला के तथा उनके समकालीनों ने इनके अतिरिक्त अँगरेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद किया था। हिंदी नाटक साहित्य के विकास के दूसरे युग में यही काम अनिश्चित गति से चलता रहा

संस्कृत नाटकों के अनुवाद का सबसे पहला प्रयत्न राजा लक्ष्मणसिंह ने किया था। उनके पश्चात् उल्लेखनीय कार्य करने वाले राय

नाटक का द्वितीय विकास काल—संस्कृत से अनुवाद

बहादुर लाला सीताराम थे। सन् १८८७ से उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों में हाथ लगाया और लगभग १५ वर्ष में 'नागानंद', 'मृच्छकटिक', 'महावीर चरित', 'उत्तर-रामच-

रित', 'मालतीमाधव', 'मालविकाग्निमित्र' आदि का गद्य और पद्य में अनुवाद किया। इनका गद्य भाग जितना सरल और स्पष्ट है उतना पद्य भाग नहीं। इनके साथ-साथ पं० ज्वालाप्रसाद (मुरादाबाद) ने 'वेणी संहार' और 'अभिज्ञान शाकुंतल', बा० बालमुकुंद गुप्त ने 'रत्नावली नाटिका'; पं० सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तर रामचरित' और 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कई दृष्टियों से इनमें अनेक अनूदित ग्रंथ सफल कहे जा सकते हैं।

बँगला के नाटकों का अनुवाद करने वालों में बनारस के बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू गोपालराम गहमरी का नाम पहले आता है।

बँगला नाटकों का अनुवाद

वर्मा जी ने 'वीररानी', 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती' नामक नाटकों का अनुवाद किया और गहमरीजी ने 'बनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'चित्रांगदा', 'देशदशा' और 'विद्या-विनोद' का। इनके पश्चात् बँगला से नाटकों का अनुवाद करने में सबसे अधिक सफलता पण्डित रूपनारायण पांडेय को मिली। इन्होंने द्विजेन्द्रलाल के चार नाटकों; 'उसपार', 'शाहजहां', 'दुर्गादास', 'ताराबाई', ठाकुर रवीन्द्रनाथ के 'अमलायतन', गिरीश घोष के 'पतिव्रता' और क्षीरोद प्रसाद के 'खाँनजहाँ', नामक नाटकों के अनुवाद किए। शेष अनुवादकों में महत्त्वपूर्ण कार्य बम्बई के नाथूराम 'प्रेमी' का समझा जाता है।

अँगरेजी शिक्षा का प्रचार जब भली भांति किया जाने लगा तब उसके साहित्य से अपने देशवासियों को परिचित कराना हिंदी भाषा-

अँगरेजी नाटकों का अनुवाद

भाषियों ने आवश्यक समझा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इस दिशा में कार्य आरम्भ हो गया। सन् १८६६ के लगभग जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलिएट' ('प्रेमलीला'), 'ऐज यू लाइक इट' और 'मर्चेंट आव वेनिस' ('वेनिस का बैपारी') नामक शेक्सपियर के तीन नाटकों का अनुवाद किया। इनके पश्चात् पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' का अनुवाद

'साइसेंद्र साहस' और 'जयत' नाम से किया। पिछले में मूल अँगरेजी से मराठी में अनुवादित नाटक से भी सहायता ली गई थी।

द्वितीय विकासकाल में प्रधानता तो अनूदित नाटकों की रही, पर दो-चार मौलिक नाटक भी लिखे गए। भारतेंदु युग के अन्तिम वर्षों में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' नामक सामाजिक प्रहसन और 'मयंक मंडारी' नाम का एक नाटक लिखा। इनके पश्चात् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय' नामक दो नाटक लिखे। पं० बलदेवप्रसाद ने 'प्रयास मिलन', 'मीराबाई', 'लल्ला बाबू' नामक तीन नाटक लिखे जिनमें अन्तिम एक प्रहसन है। इनके सहोदर पं० ज्वालाप्रसाद ने 'सीतावनवास' नाम का नाटक लिखा। इस युग के मध्यकाल में बाबू शिवनंदन सहाय ने 'सुदामा' और कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'चंद्रकला-भानुकुमार' नामक नाटक लिखे। अन्य नाटककारों में सर्वश्री विश्वभरनाथ 'व्याकुल', राधेश्याम, नारायण प्रसाद 'बेताब' का नाम प्रसिद्ध है।

द्वितीय विकासकाल के मौलिक नाटक

इधर १५–२० वर्षों से नाटक-साहित्य ने बड़ी उन्नति की है। विविध भाषाओं के नाटकों के अनुवाद इन वर्षों में किए अवश्य गए हैं परन्तु मौलिक रचनाओं की ओर लेखकों का ध्यान अधिक है। मौलिक नाटककारों में स्व० बाबू जयशंकर प्रसाद, श्री हरीकृष्ण 'प्रेमी', पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र, पं० उदयशंकर भट्ट, पं० गोविंद वल्लभ पंत और सेठ गोविंददास मुख्य हैं। 'प्रसाद' जी के नाटकों में 'स्कंदगुप्त', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'चंद्रगुप्त'; 'प्रेमी' जी के 'रक्षाबंधन', 'शिवा-साधना'; मिश्र जी के 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मन्दिर', 'आधीरात': भट्ट जी के 'दाहर या सिंधपतन', 'विक्रमादित्य', 'कमला', 'अंबा', 'विश्वामित्र', 'समर-विजय'; पंत जी के 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी'; और सेठ

आधुनिक युग के प्रमुख नाटककार

जी के 'कर्त्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश' और 'सेवापथ' नाटक प्रसिद्ध हैं। 'प्रसाद' जी और 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों का विषय मुख्यत: इतिहास से चुना है—प्रथम ने हिंदू काल और द्वितीय ने मुसलिम काल से। इसमें इन दोनों को सफलता भी मिली है। मिश्र जी ने योरुप के साहित्य-संपन्न देशों के 'यथातथ्यवाद'—जो समस्या जैसी है उसको ज्यों के त्यों वास्तविक रूप—को लेकर 'समस्या'-प्रधान नाटक लिखे हैं। भट्ट जी के नाटकों के विषय पौराणिक कहानियाँ हैं। नाट्य-कला की दृष्टि से उन्होंने इनका सुन्दर उपयोग किया है। पंतजी के नाटक विविध विषयों—प्रथम मार्कंडेय पुराण की कथा, द्वितीय मेवाड़ की ऐतिहासिक कथा और तृतीय मद्यपान की सामाजिक समस्या—को लेकर लिखे गए हैं। सेठजी के नाटकों में भी प्रथम विवेचना-प्रधान पौराणिक, द्वितीय ऐतिहासिक और तृतीय तथा चतुर्थ सामाजिक हैं।

इनके अतिरिक्त पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चुम्बन', 'चार बेचारे' (सम्पादक, अध्यापक, सुधारक, प्रचारक) और 'महात्मा ईसा'; श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' ने प्रताप प्रतिज्ञा'; स्व० राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप'; श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर', 'उत्सर्ग'; श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्स्ना'; श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन युद्ध'; पं० बद्रीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती', 'चंद्रगुप्त'; श्री सियारामशरण ने 'पुण्यपर्व'; श्री कैलाशनाथ भटनागर ने 'भीम प्रतिज्ञा' आदि दो-दो एक-एक नाटक लिख इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। इन नाटकों में कुछ न कुछ विशेषताएँ अवश्य हैं; परन्तु सभी दृष्टियों से सुन्दर कोई नहीं है। कदाचित इसी से इनमें से अनेक लेखकों ने इस तरफ से हाथ खींच लिया है।

आधुनिक युग के अन्य नाटककार

इन १५-२० वर्षों में बँगला और अँगरेजी से सुन्दर और सफल अनुवाद कम हुए हैं। जो हैं भी वे या तो पूर्वानुवाद की सहायता से

आधुनिक युग में अनुवाद-कार्य

प्रस्तुत किए गए हैं या बहुत साधारण हैं। हाँ, जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे के सुन्दर नाटक 'फाउस्ट' का अनुवाद बरेली कालेज के प्रोफेसर पं० भोलानाथ शर्मा ने बड़े परिश्रम से किया है। विद्वान अनुवादक ने इसके लिए जर्मन भाषा सीखी है। संस्कृत नाटकों के अनुवाद का काम अभी चल रहा है। इधर बाबू सत्य जीवन वर्मा 'भारतीय' ने भास के 'स्वप्न वासवदत्ता', श्री ब्रजजीवनदास ने 'पंच-रात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', श्री बलदेव शास्त्री ने 'प्रतिमा' तथा श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने दिङ्नाग के 'कुन्दमाला' का अनुवाद किया है।

आधुनिक युग में गीत नाट्य

नाट्य साहित्य के विकास के प्रस्तावना काल में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर जिस प्रकार पद्यबद्ध नाटक लिखे गये थे उसी प्रकार इधर भी कुछ गीत नाट्यों की रचना हुई है। इन्हे हम भाव-नाट्य भी कह सकते हैं। इनमें 'प्रसाद'जी का 'करुणालय', पं० उदयशंकर भट्टजी का 'मत्स्य-गंधा' और बाबू मैथिलीशरणजी का 'अनघ' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम दो तो अत्यंत भावपूर्ण काव्य के रूप में हमारे सामने आते हैं और अन्तिम कथोपकथनप्रधान पद्य-बद्ध सामाजिक नाटक के रूप में।

आधुनिक युग के एकांकी नाटक

इधर छोटे छोटे एकांकी नाटकों की रचना भी होने लगी है। हिंदी पाठक इन्हें पसंद भी कर रहे हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि एकांकी नाटक लिखने की प्रेरणा अँगरेजी से मिली है। वस्तुतः ये संस्कृत के उपनाटक का ही आधुनिक रूप हैं। इसके लेखकों में 'प्रसाद'जी, डा० रामकुमार वर्मा, श्री भगवतीचरण वर्मा, पं० उदयशंकर भट्ट और पं० सद्गुरुशरण अवस्थी का नाम प्रसिद्ध है। इन लेखकों के एकांकियों के कुछ संग्रह इधर प्रकाशित हुए हैं। इन के आधार पर 'आधुनिक एकांकी नाटक' नाम का संकलन प्रकाशित

किया गया है। सुन्दर होते हुए भी यह पूर्ण नहीं है। परंतु उक्त लेखकों से अभी इस दिशा में बहुत आशा है।

अब तक जो कुछ लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इधर १५-२० वर्षों से नाटक-साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की है। हमें अपने 'प्रसाद', 'प्रेमी', आदि पर गर्व भी होने लगा है। परंतु इनके—मुख्यतः प्रसादजी के—नाटकों में एक कमी यह बताई जाती है कि ये अभिनय-योग्य नहीं हैं। इस कथन में कुछ तथ्य तो अवश्य है, परंतु यह भी सत्य है कि अपने प्रसिद्ध नाटकों का अभिनय करने का हमने उचित प्रयत्न भी नहीं किया है। भाषा की क्लिष्टता अभिनय में बाधक अवश्य होती है, परंतु यदि प्रयत्न किया जाय तो अन्य विशेषताओं के कारण अनेक नाटककारों के—हम तो कहेंगे 'प्रसाद'जी के भी—नाटकों का सफलतापूर्वक अभिनय किया जा सकता है।

समीक्षा

रही नाटक-कला संबंधी बात। हमारे आधुनिक नाटककार आक्षे-पयोगी बातों को क्रमशः दूर करते रहे हैं और उनके नए नाटक उन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं जिनके लिए पाश्चात्य आलोचक नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही इनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न करना आरंभ कर दिया था। 'प्रसाद'जी तक आते-आते हमारे नाटक दोष-रहित हो गए हैं और हमें आशा होती है कि भविष्य में हिंदी नाटक-साहित्य और भी अधिक उन्नति करेगा।

(घ) निबंध

भारतेंदु के समकालीन साहित्य सेवियों ने कदाचित निबंध रचना की ओर सब से अधिक ध्यान दिया था। इस युग के निबंधों के विषय प्रायः तीन प्रकार के हैं—(१) सामाजिक (२) विविध और (३) साहित्यिक। प्रथम वर्ग के अंत-र्गत सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक उन सभी प्रकार के विषय आ जाते हैं जिनका संबंध तत्कालीन स्थिति से था। ऐसे निबंध प्रायः सुधारात्मक होते और उद्दे-

प्रथम विकास—सन् १९०० तक

श्य विशेष से लिखे जाते हैं। हास्य और व्यंग्य युक्त मधुर और मार्मिक उक्तियों के कारण इस प्रकार के लेख विशेष रोचक होते हैं। विचारों की सत्यता, उद्देश्य की पुनीतता और स्वभाव की निर्भीकता ने इस प्रकार के निबंधों को विशेष शक्तिशाली और सजीव बना दिया है।

दूसरे प्रकार के निबंध ऋतु छटा, पर्व त्योहार, जीवन चरित ऐतिहासिक घटनाएँ और नैतिक आचरण-संबंधी हैं। इनकी संख्या पहले प्रकार के निबन्धों की लगभग आधी समझनी चाहिए। ये प्रायः वर्णनात्मक शैली में लिखे गए हैं। उपदेश की प्रधानता के कारण आज इनका विशेष महत्त्व नहीं है। इन निबन्धों में कहीं भावात्मक और विचारात्मक स्थल भी हैं जहाँ अलंकृत भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है।

तीसरे प्रकार के साहित्यिक लेख इस युग में लिखे तो अधिक नहीं गए परंतु जितने उपलब्ध हैं कला की दृष्टि से उनका स्थान ऊँचा है। इनके दो एक संग्रह अभी तक प्रकाशित हुए हैं, परंतु इतने से ही यह कहा जा सकता है कि इस युग के अधिकांश साहित्य सेवियों को इस क्षेत्र में अभिनंदनीय सफलता मिली थी। कभी भावपूर्ण और कभी विचारात्मक गठी हुई शैली तथा सजी हुई अलंकृत और कभी अकृत्रिम स्वाभाविकता युक्त भाषा में लिखे गए इस युग के साहित्यिक निबंधों में व्यक्तित्व की छाप भी स्पष्ट है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट इस युग के सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ निबंध लेखक हैं, यद्यपि स्वयं भारतेंदुजी और उनके सहयोगियों के लिखे हुए निबंधों की संख्या भी कम नहीं है। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रथम विकास-काल के महत्त्वपूर्ण लेख आज भी दबे पड़े हैं; पुस्तक रूप में इनके प्रकाशित हो जाने पर हमारा निबंध साहित्य आज का-सा रीता न रह जायगा।

बीसवीं शताब्दी के ये बीस वर्ष हिंदी प्रचार-प्रसार के लिये जितने महत्त्व के हैं, ठोस साहित्य सृष्टि की दृष्टि से उतने नहीं। इस काल में

द्वितीय विकास— १९२० तक

केवल सामयिक समस्याओं के संबंध में साहित्यिकों ने लेख-रूप में विचार अवश्य प्रकट किये; होली, विजय दशमी, रामलीला, दीपावली इत्यादि त्योहारों और उत्सवों पर भी पूर्ववत् निबंध लिखे; परन्तु भारतेंदु काल की अपेक्षा इस युग की इन कृतियों में सजीवता और सत्यता कम ही रही। फलस्वरूप ये उतने प्रभावोत्पादक भी न हो सके। साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लेख तो इन बीस वर्षों में और भी कम लिखे गये, यद्यपि इसके लिए पर्याप्त प्रयत्न किया गया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक लार्ड बेकन के निबंधों का 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से और पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने ख्याति प्राप्त मराठी लेखक चिपलूणकर के निबंधों का 'निबंध मालादर्श' नाम से अनुवाद भी इस आशा से सामने रखा कि इन्हीं के समान सुन्दर लेख लिखने की ओर हिंदी-लेखक प्रवृत हों परन्तु सफलता न मिली। अन्य साहित्यिकों ने तो इस ओर ध्यान दिया ही नहीं, स्वयं द्विवेदीजी और अग्निहोत्रीजी भी इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके।

हाँ, एक बात इस युग में भारतेंदु काल से अधिक मूल्य की अवश्य हुई। वह यह कि निबंध के लिए विषयों की संख्या इस समय बहुत बढ़ गई। भारतेंदुजी के सहयोगियों ने समाज, धर्म, इतिहास, प्राचीन साहित्य, जीवन-चर्चा, ऋतु-वर्णन, पर्व-त्योहार आदि थोड़े ही विषयों पर निबंध लिखे थे, और वे भी साधारण परिचयात्मक ही थे। द्विवेदी कालीन लेखकों ने उक्त विषयों को तो अपनाया ही, साथ साथ दर्शन, तर्क शास्त्र, आलोचना-सिद्धान्त, पुरातत्व, साहसिक कार्य, वैज्ञानिक आविष्कार, मनोविज्ञान चिकित्सा, अर्थशास्त्र, विदेशी साहित्य, भूगोल, खगोल, इत्यादि ऐसे विषयों को भी अपनाया जिनके भारतेंदु युग में नाम-भर सुने गये थे अथवा जिन पर केवल टिप्पणियाँ लिखकर छोड़ दी गई थीं।

इस युग के प्रसिद्ध निबंध लेखकों में सर्व श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी

माधवप्रसाद मिश्र, गोपालराम गहमरी, बालमुकुंद गुप्त, गोविंदनारायण मिश्र, श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, चंद्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह विशेष प्रसिद्ध हैं। स्वतंत्र रूप से उक्त सज्जन यदि पर्याप्त संख्या में निबंध लिखते तो इसमें संदेह नहीं कि इस दिशा में भी हिंदी-गद्य ने बहुत उन्नति कर ली होती; फिर भी निस्संदेह इनके सदुद्योग का ही यह फल हुआ कि आगे के निबंध-लेखक जिनमें उक्त सज्जनों में श्यामसुंदरदास और रामचंद्र शुक्ल भी हैं, हिंदी में साहित्यिक दृष्टि से अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण निबंधों की रचना कर सके।

तृतीय विकास— १९२० से अब तक

तृतीय विकास काल में विभिन्न विषयों के निबंध बड़ी संख्या में लिखे गये। विज्ञान आविष्कार, पर्यटन, प्रकृति-संबंधी वर्णनात्मक निबंधों को रोचक बनाने का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु गंभीर साहित्यिक लेखों की संख्या उतनी नहीं रही जितनी विकास-क्रम के अनुसार होनी चाहिये थी। गुलाबराय, शांतिप्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार इत्यादि गिने-चुने लेखकों का कार्य ही इस दिशा में सराहनीय है। इधर आलोचनात्मक लेख लिखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और यह आशा की जाती है, कि शीघ्र ही हिंदी का निबंध साहित्य भी कहानी, उपन्यास और नाटकों की तरह उन्नत और समृद्ध हो जायगा।

(ङ) गद्य-काव्य

प्राचीन अलंकृत रूप, १९१० तक

हिंदी गद्य-काव्य का प्राचीन रूप संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'कादंबरी' की-सी अनुप्रास युक्त समासांत पदावली में लिखा मिलता है। भावुकता की उसमें प्रधानता न होकर अनुप्रासमयी रचना शैली की प्रचुरता है और फलतः लेखक की रचना-कुशलता केवल शब्द चयन में ही व्यय होती थी। भारतेंदुकालीन पंडित बालकृष्ण भट्ट के 'चंद्रोपालंभ' जैसे निबंधों में इस शैली के दर्शन होते हैं। द्विवेदी युग के पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने इस शैली को वह तूल दिया और अनुप्रासयुक्त समासांत पदावली के संचय का ऐसा विकट प्रयत्न किया कि

उनके शब्द जाल में पाठकों की बुद्धि एक बार फँसकर कठिनता से आगे बढ़ पाती है। अस्वाभाविक कृत्रिमता के कारण गद्य-काव्य की समझी जाने वाली यह शैली शीघ्र ही साहित्य सेवियों द्वारा अनादृत हो गई।

पश्चात्, गद्य-काव्य की अंतरात्मा ही बदल गई। भाव-प्रकाशन शैली के बाहरी रूप के संस्कार और परिष्कार की ओर ध्यान न देकर रचना को भावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा। इस प्रकार का भावात्मक गद्य लिखने का विचार हिंदीवालों को बँगला लेखकों, विशेष कर कवींद्र रवींद्र से मिला। अँग्रेजी साहित्य का प्रभाव जितना बँगला पर पड़ा था, उतना किसी अन्य भाषा पर नहीं। बँगला-भाषियों ने इससे लाभ भी पूरा उठाया। ईसाइयों ने बंगाल में अपने धर्म-प्रचार के लिये पादरी भक्तों और ईसाई संतों की भावपूर्ण रचनाओं का बहुत प्रचार किया था। इसका विरोध करने के लिये वहाँ ब्रह्म-समाज की स्थापना की गई तो उसके संस्थापकों ने ईसाई धर्म की कुछ विशेषताएँ भी अपना लीं। ईश्वराधना का खास दिन ब्रह्म-समाजियों में भी ईसाइयों की तरह रविवार माना गया। इसी तरह भक्तिभाव-व्यंजना-पद्धति भी ईसाइयों का अनुकरण करके ही ब्रह्म-समाजियों ने अपनाई। 'उस परोक्ष आलंबन को प्रियतम मानकर उसके साथ संयोग-वियोग की अनेक दशाओं की कल्पना, इस पद्धति की विशेषता है।' हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार की रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता-प्रधान रचनाओं की प्रचुरता है। अतः ईसाइयों से प्रेरणा पाते ही प्राचीन उपनिषद् साहित्य की भावात्मकता अपना कर अनेक बंगाली कवियों ने गद्यगीतों की रचना की। इनके संग्रहों में सबसे प्रसिद्ध कवींद्र रवींद्र की 'गीतांजलि' है। इस पर विश्वविख्यात नोबुल पुरस्कार मिलते ही हिंदी जगत में इसकी धूम मच गई। अनेक सहृदय कवियों और रसिकों ने 'गीतांजलि' का अनुकरण करना आरंभ किया। प्रारंभिक लेखकों में रायकृष्णदास को उसमें विशेष सफलता मिली। 'साधना' 'प्रवाल', 'छाया-

प्रथम विकास काल—सन् १९१० से १९३० तक

वाद' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। वियोगीहरि की 'भावना' और 'अंतर्नाद' भी इसी कोटि के उल्लेखनीय संग्रह हैं। चतुरसेन शास्त्री के कुछ गद्य-काव्य भी सुन्दर बन पड़े हैं।

आध्यात्मिक प्रेम की अंतरात्मा तक जिन सहृदय रसिकों की अंतर्दृष्टि न पहुँच सकी, उन्होंने रहस्यमयी लाक्षणिक भावुकता-प्रधान उक्त महत्त्वपूर्ण रचनाओं को शाब्दिक अर्थ अपने लौकिक प्रेम की अभिव्यंजना के लिये अपनाया। रीति कालीन कविता की तरह के कसक, वेदना, टीस, प्रतीक्षा, उत्सुकता, उपालंभ-प्रधान ये गद्यगीत प्रतिदिन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। हृदय को छूने की शक्ति यद्यपि इनमें नहीं होती तथापि रसिकों का थोड़ा-बहुत मनोरंजन इससे हो ही जाता है।

लौकिक प्रेम की प्रधानता

गद्य-काव्य के द्वितीय विकासकाल में डाक्टर रघुवीरसिंह और डा० रामकुमार वर्मा के गद्य गीतों ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। प्रथम की रचनाओं का प्रधान विषय अतीत की वे मार्मिक घटनाएँ अथवा ऐतिहासिक स्थल हैं जिनका स्मरण करके अथवा जिनको सामने पाकर सभी सहृदय व्यक्तियों के मर्मस्थल पर प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः मानव हृदय की सामान्यवृत्ति अतीत की मार्मिक स्मृतियों में सर्वदा रमती रहती है। वह भावुक ही क्या, भावपूर्ण स्थलों को सामने पाकर भी जिसकी अनुभूति जाग्रत न हो? डा० रघुवीरसिंह ने मुगल कालीन ऐसे ही स्थलों और क्षेत्रों को यथा ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, जहाँगीर और नूरजहाँ की कब्र इत्यादि, चुनकर अनेक भावात्मक गद्य काव्य लिखे हैं। प्रेम, वियोग, त्याग, विवशता इत्यादि मनोभावों की मार्मिक व्यंजना इन्होंने बड़ी तन्मयता के साथ की है। यही इनके गीतों की प्रसिद्धि का प्रधान कारण है।

द्वितीय विकास—
१९३० से अब तक

दूसरे लेखक डा० रामकुमार हैं जिनकी रचनाओं का संग्रह 'हिमहास' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। संतकाव्य, विशेषतः कबीर की

रचनाओं का विशेष अध्ययन करने और प्रमुख रहस्यवादी कवि होने के कारण इनके गद्य गीतों में पूर्व प्रचलित रहस्योन्मुख आध्यामिकता तो वर्तमान रही ही, साथ-साथ अतीत की मार्मिक स्मृतियों की वेदना-भरी अनुभूति भी पाठकों का चित्त आकर्षित करती है। रचना शैली की दृष्टि से प्रथम विकास काल के रायकृष्णदास और वियोगी हरि की कृतियाँ जितनी सरल और प्रसाद गुण युक्त हैं, उतनी ही इन डाक्टरों की परिष्कृत और परिमार्जित, उनकी रचना शैली में यदि भक्त की सी सरल मुग्धता का प्रभाव है तो इनमें ज्ञान की गरिमा और अध्ययन के प्रयास का।

गद्य में काव्य की सी भाव-प्रधानता लाने का प्रयत्न करना स्वाभाविक है; परन्तु तत्संबंधी आवेश में शब्दालंकारों का प्रयास युक्त चयन गद्य को बोझिल और अस्वाभाविक ही बना सकता है, भावपूर्ण नहीं। दूसरी बात गद्य काव्य की उन्नति के लिये हानिकारक है। लेखकों का सभी गंभीर और विचारात्मक विषयों पर भावमग्न होकर प्रलापपूर्ण शैली में भावाभिव्यंजक शब्दों का संग्रह करने लग जाना। गद्य काव्य लिखने की प्रवृत्ति इधर बहुत बढ़ रही है। उक्त दोनों बातों से सावधान होकर इस क्षेत्र में प्रवृत्त होने से इनकी उन्नति का कार्य अत्यंत सुलभ हो जायगा।

समीक्षा

(च) समालोचना

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में काव्यों की टीका द्वारा परोक्ष और काव्यांगों की शास्त्रीय विवेचना द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आलोचना-संबंधी जो कार्य चलता रहा, भारतेंदु युग में वह बहुत शिथिल हो गया। भारत में विदेशियों के आगमन से पद्य में सीमित-साहित्य-रचना की परिपाटी ही प्रचलित न रह गई, तब काव्यांगों की चर्चा का क्रम भी पूर्ववत् कैसे चल सकता था? इस समय के साहित्य-सेवियों का ध्यान और प्रयत्न प्रधानतः भाषा-शैली-संबंधी अपनी रुचि के अनुकूल रूप जनता के सामने रखने भर का रहा, यद्यपि भारतेंदु-

समालोचना का पूर्व रूप
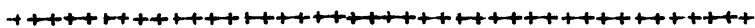
सरीखे एकाध व्यक्ति ने साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा भी की। हाँ, भाषा-शैली के रूप-विषयक जो विचार लेखकों ने समय-समय पर प्रकट किये वे मुख्यतः आलोचनात्मक-शैली में ही हैं। उधर धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी वाद-विवाद हो रहा था। विदेशियों के आगमन से भारतीय रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि पर जो प्रभाव पड़ा, भारतीय उसके पक्ष-विपक्ष दोनों में थे। अतः उसके विरोध अथवा समर्थन में, अपने प्रतिपक्षी की दलीलों का उत्तर देते हुए नित्यप्रति विचार प्रकट किये जा रहे थे। उत्तर-प्रत्युत्तर-प्रधान ऐसे लेख जब पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए तब साहित्यिकों पर भी उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। आधुनिक आलोचना का सूत्रपात यहीं से समझना चाहिये।

भारतेंदु-युग में समालोचना

इस प्रकार विषय प्रधानता की दृष्टि से समालोचना के तीन रूप भारतेंदु-युग में मिलते हैं—

(१) पूर्व प्रचलित काव्यालोचना—रस, अलंकार इत्यादि के लक्षण दिखाने के लिए अथवा कला और भाव की दृष्टि से सुन्दर छंदों और पदों के संग्रह इस युग में भी निकाले गए जिनसे हमें संकलन-कर्ताओं की रुचि का पता लगता है।

(२) धर्म-समाज-संबंधी सामयिक आलोचना—अपने विचारों के समर्थन और प्रतिपक्षी के विचारों के विरोध में जो लेख या भाषण तैयार किए जाते थे उनमें विषय का प्रतिपादन आलोचनात्मक ढंग से ही रहता था।

(३) साहित्यिक आलोचना—'आलोचना' शब्द का प्रयोग आज जिस अर्थ में होता है उसका प्रारंभिक रूप हमें भारतेंदु-युग के एकाध पत्रों और ग्रंथों की भूमिका में मिलता है। विषय की दृष्टि से इन आलोचनाओं के दो भेद हो सकते हैं। एक, भाषारूप-संबंधी लेखकों ने प्रकट किए। 'इतिहास-तिमिर नाशक' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में राजा शिवप्रसाद ने यह प्रश्न साहित्यिकों के सामने रखा। इन बातों का उत्तर राजा लक्ष्मणसिंह ने 'रघुवंश' की भूमिका में

दिया। फिर तो प्रत्येक लेखक के लिए इस संबंध में अपने विचार प्रकट करना अनिवार्य हो गया। इस तरह आलोचना-शैली के जन्म का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ।

प्रथम विकास—सन् १८७५ से १९०० तक

विषय की दृष्टि से दूसरा भेद ग्रंथों की आलोचना है। प्रकाशित पुस्तकें अपने साहित्यिक मित्रों को इसलिए भेंट की गईं कि उनके संबंध में प्रामाणिक सम्मति मिल सके। आगे चलकर ये सम्मतियाँ पत्रों में छपने लगीं। इसी तरह अन्य लेखकों की भाषा-शैली और विचारों इत्यादि की भी आलोचना की जाने लगी। अंबिकादत्त व्यास की 'दयानंद-पांडित्य-खंडन' ऐसी ही पुस्तक है। श्री-निवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की बदरीनारायण चौधरी और बालकृष्ण भट्ट ने बड़ी कटु आलोचना की थी। इन आलोचकों ने प्रशंसात्मक सम्मति न देकर अपनी योग्यता के अनुसार निष्पक्ष होकर अपने विचार प्रकट किए और इस प्रकार अपने अनुपम साहस का परिचय दिया। अतः भारतेंदु युग में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य इन्हीं का समझना चाहिए। इसके पश्चात् सभी पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों की आलोचना निकलना आरम्भ हो गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में हिंदी-समालोचना का गद्य-साहित्य के अङ्गों में सबसे अधिक विकास हुआ। वस्तुतः इस युग का

द्वितीय विकास १९०० से १९२० तक

आरंभ ही समालोचना से होता है। सन् १९०३ में सरस्वती का संपादन स्वीकार करने के पहिले ही पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी कुछ हिंदी रीडरों की कटु आलोचना करके प्रसिद्ध हो चुके थे। पश्चात् उन्होंने लाला सीताराम के अनुवादित संस्कृत नाटककों में भाषा और भाव अभाव के दोष दिखाए। 'विक्रमांक देव-चरित चर्चा', 'नैषध चरित चर्चा' और 'कालिदास की निरंकुशता' उनकी अन्य रचनाएँ हैं जो आलोचनात्मक ढंग से लिखी गई हैं। परन्तु इनसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में उन्होंने 'सरस्वती' मे

प्रतिमास हिंदी पुस्तकों की आलोचना करके किया। उन्होंने नवीन प्रकाशित पुस्तकों में भाषा, शैली इत्यादि के दोष निर्भय होकर दिखाए। इस पर उनका बड़ा विरोध किया गया; परन्तु उन्होंने विरोधियों को सदैव मुँह तोड़ उत्तर दिया। भाषा की शुद्धता और शैली को व्यवस्थित बनाने में इन आलोचनाओं का बड़ा हाथ रहा। सभी प्रकार के पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों की इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात इसी समय से समझना चाहिए।

इस क्षेत्र से बाहर रह कर आलोचना करने वालों में मिश्र बंधुओं का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने 'हिंदी नवरत्न' में हिंदी के सर्वमान्य नौ कवियों की रचना पर आलोचनात्मक ढंग से विचार किया। देव का आसन उसकी सम्मति में सूर-तुलसी को छोड़ कर सबसे ऊँचा है। उनके इस मत को लेकर आलोचना क्षेत्र में कुछ दिन तक बड़ी चर्चा रही। पं० पद्मसिंह शर्मा की 'सतसई की टीका', पंडित कृष्णविहारी मिश्र की 'देव और बिहारी', लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' नामक पुस्तकें परस्पर आलोचना - प्रत्यालोचना के रूप में लिखी गईं। इन ग्रंथों से यद्यपि समालोचना के स्वरूप का विकास नहीं हुआ तथापि साहित्यिकों को इस विषय के महत्त्व का अनुभव अवश्य हो गया। दूसरी बात यह कि शर्माजी की तुलनात्मक शैली लोगों को बहुत रुचिकर हुई आगे के प्रायः सभी आलोचकों ने इसे अपना लिया।

हिंदी समालोचना का तृतीय विकास अत्यन्त संतोषजनक है। इसका आरंभ पंडित रामचन्द्र शुक्ल के महत्त्वपूर्ण कार्य से होता है।

तृतीय विकास
१९२० से अब तक

सूर, तुलसी और जायसी पर आलोचनात्मक निबंध लिख कर उन्होंने जिस नवीन आलोचना-पद्धति का प्रचलन किया, उनके विद्वान शिष्यों और साहित्य-प्रेमी आलोचकों ने उसे अपना कर केशवदास, पद्माकर, मैथिलीशरण, जयशंकरप्रसाद, सुमित्रानंदन पंत तथा अन्य कवियों पर आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें से अनेक की प्रशंसा

स्वयं शुक्लजी ने ही की थी। इस वर्ग के आलोचकों में सर्व श्री नंद-दुलारे बाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, नगेंद्र, सत्येंद्र, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, शांतिप्रिय द्विवेदी, रामनाथ 'सुमन' और गिरजाशंकर शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है।

समालोचनाओं के क्षेत्र में दूसरे ढंग का कार्य डा० श्यामसुन्दरदास ने शुरू किया। पाश्चात्य और पूर्वीय काव्य-मीमांसा को लेकर उन्होंने 'साहित्यालोचन' की रचना की। आगे चल कर इस ढंग की 'आलोचनादर्श', 'समालोचना तत्व', 'कहानी कला' आदि पुस्तकें लिखी गईं।

हिंदी साहित्य की प्रगति आज बड़े वेग से हो रही है। समालोचक का कार्य है कि साहित्य के सभी अंगों की निरन्तर परीक्षा करता रहे

समालोचना का भविष्य

हिंदी-साहित्य-विकास की गति ने यद्यपि आलोचक के कार्य को विशेष कठिन बना दिया है, परन्तु संतोष की बात है कि हमारा समालोचक वर्ग आज अपने उत्तरदायित्व का सफलता पूर्वक पालन कर रहा है। प्रतिमास आलोचनात्मक लेखों के साथ साथ नित्य नवीन समीक्षात्मक ग्रंथों से साहित्य के इस अंग की पूर्ति की जा रही है। अँगरेजी जैसी विदेशी और बँगला जैसी देशी भाषाओं में वास्तविक कलाकारों की कृतियों से कई गुना अधिक आलोचनात्मक साहित्य वर्तमान है। हिंदी समालोचना का भण्डार अभी इतना समृद्ध नहीं है; परन्तु इसकी वर्तमान प्रगति देख कर यह आशा अवश्य की जाती है कि निकट भविष्य में गद्य-साहित्य का यह अंग भी भरा-पूरा दिखाई देगा।

———

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

(सन् १८५०-८५)

आधुनिक हिंदी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म ६ सितम्बर सन् १८५० को सोमवार के दिन हुआ था। इनके पिता बाबू गोपालचन्द्र स्वयं बड़ी अच्छी कविता करते थे। उन्होंने ही अपने पुत्र को प्रसिद्ध होने और कविता करने का शुभाशीर्वाद दिया था। माता-पिता इन्हें क्रमशः पाँच और दस वर्ष की अवस्था में छोड़कर परलोक सिधारे थे। इससे इनका लालन-पालन तो बड़े लाड़-प्यार से हुआ; परन्तु शिक्षा का उचित प्रबन्ध न हो सका। कुछ दिन तक घर ही पर हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी पढ़ने के बाद इन्होंने एक महाजनी स्कूल में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' से शिक्षा प्राप्त की; फिर क्विन्स कालेज में अँगरेजी और संस्कृत पढ़ने लगे। यह क्रम भी दो-तीन वर्ष से अधिक न चला। इसी समय इन्होंने जगन्नाथ यात्रा की। इस प्रकार स्कूल की नियमित शिक्षा का अन्त हो गया।

परिचय

छात्रावस्था में ही भारतेन्दुजी को कविता करने का शौक हो गया था। उस समय की इनकी प्रायः सभी रचनाएँ शृंगार रस की हैं। इसके पश्चात् जब इन्होंने बंगाल की यात्रा की, तब वहाँ के साहित्य की उन्नतावस्था देखकर हिंदी साहित्य की उन्नति की ओर इन्होंने ध्यान दिया। उनके इस उद्योग से साहित्य के रिक्त अंशों की यथोचित पूर्ति चाहे भले ही न हुई हो; परन्तु इनका प्रयत्न सत्य ही स्तुत्य था और इसी से इनका नाम आज बड़े आदर से लिया जाता है।

भारतेन्दुजी की हिंदी-सेवा कई मार्गों से झुकी हुई थी। ये केवल कवि ही नहीं, गद्य के भी अच्छे लेखक थे। ये 'रस-भक्त तथा देशभक्त' दोनों ही थे। प्राचीन (भारतीय) गौरव का पूर्ण

भारतेन्दु की हिंदी-सेवा

आदर करते हुए ये नवीन विचारों के प्रति भी पूर्ण-तया उदार थे। इस प्राचीनता तथा नवीनता के सुन्दर सामंजस्य के साथ इनकी सबसे बड़ी विशेषता आधुनिक हिंदी को जन्म देकर, उसे राष्ट्र-भाषा बनाने का सफल प्रयास है और इसीसे ये आधुनिक हिंदी के जन्मदाता कहे गए हैं। इन्होंने हिंदी की निम्नलिखित रूपों में सेवा की—

नाटक

इनके प्रादुर्भाव के समय हिंदी में नाटकों का अभाव था। जो नाटक लिखे भी गए थे, वे अनुवादमात्र थे और इनमें नाटक के तत्त्वों का सर्वथा अभाव था। भारतेन्दु जी ने लगभग १५ मौलिक और अनुवादित नाटक लिखकर इस कमी को दूर करने की ओर पहला कदम बढ़ाया। यह काम इन्होंने सन् १८६८ में १८ वर्ष की अवस्था में शुरू किया था। इनका 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक बहुत प्रसिद्ध है और कई बार सफलता से खेला भी जा चुका है। नाट्य कला की दृष्टि से भी इनके दो-एक नाटक बड़े सुन्दर हैं।

काव्य

इन्होंने प्रायः मुक्तक छंद ही लिखे हैं। नीति काव्य के तो यह अन्तिम प्रसिद्ध कवि थे। छंदों में सवैया, कवित्त, दोहे इन्हें विशेष प्रिय थे। इनकी कविता में एक ओर तो शृंगार की प्रधानता है और दूसरी ओर भक्ति की। ये दोनों विषय इन्होंने पूर्व हिंदी-कविता से प्रभावित होकर अपनाए थे। यद्यपि भक्ति और शृंगार-रस की इनकी कविताएँ भी सुन्दर हैं तथापि इनका महत्त्व इस बात में है कि देश और समाज की परिस्थिति के अनुसार इन्होंने देश-प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ भी लिखीं। देश की स्थिति पूर्ववत् ही होने के कारण इनकी देश भक्ति-प्रधान कविताओं का मूल्य आज और भी बढ़ गया है।

इन्होंने सबसे बड़ा काम यह किया कि तत्कालीन ब्रजभाषा को छोड़, खड़ी बोली का परिष्कार कर, उसे अपनाया और उसमें स्वयं तो लिखा ही, दूसरों को भी लिखने के लिए उत्साहित किया। भाषा के क्षेत्र में उस समय बड़ी धाँधली हो रही थी। कुछ लोग संस्कृत-प्रधान

गद्य के क्षेत्र में

भाषा के पक्षपाती थे और कुछ अरबी-फारसी-प्रधान के। प्रचार की दृष्टि से ये दोनों ही रूप भाषा की उन्नति में बाधक थे। अतः भारतेन्दु जी ने मध्यम मार्ग अपनाकर हिंदी को प्रचार-प्रसार के योग्य बनाया। प्रायः सभी श्रेष्ठ साहित्यिकों ने आगे चल कर उनके इस कार्य का समर्थन किया और भाषा के इसी रूप को अपनाया।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र
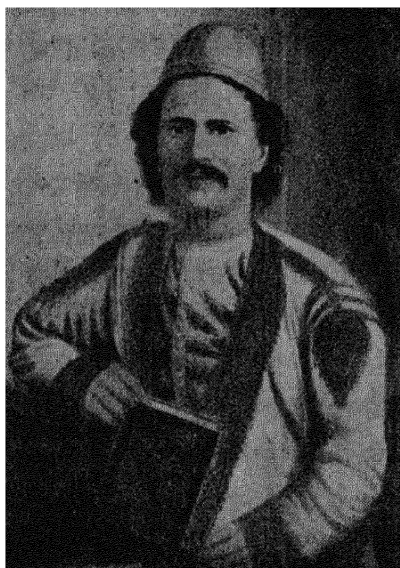
हिंदी-गद्य में भारतेंदु के पहले कोई सुन्दर पुस्तक थी ही नहीं; अतः इन्होंने विविध विषयों में विविध विषयों पुस्तकें लिख कर लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया। राज-भक्ति-विषयक लेख उन्होंने लिखे और भारतवासियों के हृदय में देश-प्रेम का भाव जाग्रत किया; धर्म-ग्रंथ लिखने को वे प्रयत्नशील थे और साथ-साथ समाज तथा धर्म की कुरीतियों की आलोचना भी निडर होकर किया करते थे। हास-परिहास और व्यंग्यपूर्ण लेख तो इन्होंने लिखे ही पर इतिहास-अनुसंधान संबंधी गंभीर विषयों को भी नहीं छोड़ा। उपन्यास और आख्यायिका की रचना के लिए भी इन्होंने प्रयत्न किया। सारांश यह कि गद्य-पद्य-मय काव्य, नाटक, कला, इतिहास, परिहास, समालोचना आदि सभी विषयों पर ये बराबर लिखा करते थे।

हिंदी पत्रों का जन्मदाता भी हम वस्तव में बाबू हरिश्चन्द्र को ही कह सकते हैं। सन् १८६७ में इन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' नामक मासिक

समाचार-पत्र

पत्र निकाला था। कुछ समय पश्चात् इसे साप्ताहिक करके सन् १८७३ के अक्टूबर में दूसरा मासिक 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के नाम से (इसका नाम बाद में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया) उन्होंने प्रकाशित किया और दूसरे वर्ष (जनवरी सन १८७४) से स्त्री-शिक्षोपयोगी 'बालबोधिनी' नामक मासिक पत्रिका निकाली। इन सभी पत्रों का आदर्श भाषा का प्रचार, समाज और धर्म-सुधार था। भारतेन्दु जी चाहते थे कि सारे देशवासी, देश, समाज और धर्म के प्रति अपने कर्तव्य को समझ लें और उसका शक्ति-भर पालन करें। अपने पत्रों द्वारा उन्होंने भारतवासियों तक यही सन्देश पहुँचाया है।

प्राचीन पुस्तकों का प्रकाशन

प्राचीन कवियों के ग्रंथों के प्रकाशन की ओर भी भारतेन्दुजी ने ध्यान दिया था। प्राचीन कवियों के ग्रन्थों को खोज कर, उनका संपादन करके ये अपने पत्रों में क्रमशः छापा करते थे। आगे चल कर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस काम को पूरा किया।

अनुवाद

भारतेन्दुजी ने कई नाटकों का अनुवाद किया था। इसी प्रकार संस्कृत और बँगला साहित्य की उन्नति देखकर अन्य विषयों की पुस्तकों के अनुवाद में भी उन्होंने हाथ लगाया था। इस पथ-प्रदर्शन का परिणाम यह हुआ कि उनकी मृत्यु के पश्चात् हिंदी-सेवकों का एक दल अनुवाद-कार्य में जुट गया और शीघ्र ही हिंदी में अनुवादित ग्रन्थों का बाहुल्य हो गया।

सारांश

संक्षेप में, "जिस प्रकार भारतेंदु जी ने हिंदी गद्य को सुव्यवस्थित चलता मधुर रूप देकर उसमें नाटक, इतिहास, पुरावृत्त, धर्म, आख्यान निबंधादि अनेक काव्य-विषयक ग्रंथों की रचना की थी उसी प्रकार हिंदी पद्य-साहित्य की भाषा को परिमार्जित कर उसमें नवीन युग के अनुकूल कविता-धारा को प्रवाहित कर हिंदी-साहित्य को अपना चिर ऋणी कर रक्खा है। इनकी प्रतिभा अपनी मातृ-भूमि तथा मातृभाषा की त्रुटियों के निरीक्षण में
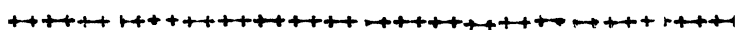
जितनी पटु थी उतनी ही उसके उत्थान के प्रयत्न में भी दत्त-चित्त रहती थी। भारत की चिंता में व्यग्र तथा हिंदी के प्रेम में मतवाले भारतेंदु जी ने अपना तन, मन, धन सब कुछ इन्हीं दो पर निछावर कर दिया। हिंदी साहित्य में इनका स्थान बहुत ऊँचा और अमर है:—

जब लौं ये जागृत रहैं जग में हरि औ चंद।
तब लौं तुव कीरतिलता फूलहु श्री हरिचंद।

भारतेंदु जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से हिंदी में निम्नलिखित मौलिक और अनुवादित ग्रंथ लिखे थे—

भारतेंदु के ग्रंथ

नाटक—विद्यासुन्दर (छायानुवाद), पाखंड विडंबन (अनुवादित), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (मौलिक प्रहसन), धनंजयविजय (अनुवादित), सत्य हरिश्चंद्र (मौलिक), कर्पूर मंजरी (अनुवाद), विषस्य विषमौषधम् (मौलिक-भाण), चंद्रावली (मौलिक), भारत दुर्दशा (मौलिक-रूपक), नीलदेवी (मौलिक), अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा (मौलिक प्रहसन), मुद्राराक्षस (अनुवाद), दुर्लभ बंधु (अनुवाद) भारत जननी (छायानुवाद)। इनके अतिरिक्त प्रवास नाटक, प्रेम योगिनी, राणाप्रताप आदि कृतियाँ भी इन्हीं की हैं, जो अपूर्ण हैं।

काव्य—भारत वीरत्व, रिपन-अष्टक, विजयिनी-विजय, वैजयंती, ये रचनाएँ राजभक्ति विषयक हैं। इनके अतिरिक्त होली, मधुमुकुल, प्रेम-फुलवारी, प्रेम-प्रलाप, प्रातःस्मरणीय मंगलपाठ, प्रेमाश्रुवर्षण, वर्षा-विनोद, प्रेम-माधुरी, सतसई-सिंगार, कृष्ण-चरित्र आदि अन्य प्रसिद्ध भक्ति और प्रेम-काव्य हैं।

गद्य—(क)—नाटक, तथा अन्य अनेक लेख साहित्यिक हैं।

(ख)—काश्मीर-कुसुम, बूँदी का राजवंश, रामायण का समय, आदि इतिहास से संबंध रखते हैं।

(ग)—सुलोचना, शीलवती, सावित्री-चरित्र आदि आख्यान हैं।
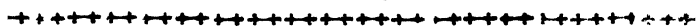
भारतेंदु जी के ग्रंथों को देखने से पता चलता है कि इन्होंने गद्य में नाटक, जिनमें कविता-भाग भी प्रचुर है, और इतिहास संबंधी लेख अधिक लिखे हैं। इनके कुछ नाटक तो शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे गए थे और कुछ उद्देश्य-विशेष से। इसी प्रकार कुछ इतिहास-संबंधी लेखों में साधारण वर्णनात्मक परिचय है और कुछ में गंभीर गवेषणा। 'नाटक' आदि इनके गंभीर साहित्यिक लेखों में गवेषणात्मक भाग उतना नहीं है जितना गंभीर साहित्यिक भाग। इनकी ऐतिहासिक गवेषणा और साहित्यिक गवेषणा में एक अन्तर यह भी दिखाई देता है कि प्रथम में अपेक्षाकृत शुष्कता है।

विषय

विषय के अनुसार भारतेंदु जी की शैली के निम्नलिखित प्रधान भेद किए जा सकते हैं—

भारतेंदु जी की शैली

(१) साधारण वर्णन-प्रधान लेखों की परिचयात्मक शैली।
(२) शुद्ध भावपूर्ण स्थलों की भावात्मक शैली।
(३) गंभीर ऐतिहासिक और साहित्यिक लेखों की गवेषणात्मक शैली।

परिचयात्मक शैली

लेखक की एक निजी शैली होती है जो विशेष स्थलों और विशेष कारणों से ही परिवर्तित होती है। इस परिवर्तन का कारण कभी तो विषय की गंभीरता होता है और कभी लेखक या उसके पात्रों का भावावेश। इन दोनों कारणों के अभाव में जो व्यावहारिक शैली प्रकृत या साधारण अवस्थाओं में काम आती है उसी को परिचयात्मक शैली कहते हैं। उच्च कोटि के नाटकों में इस शैली के बड़े-बड़े उदाहरण प्रायः नहीं होते क्योंकि वास्तविक कथोपकथन प्रायः दो-एक वाक्यों तक ही सीमित रहता है। और बड़े उदाहरण प्रायः उद्देश्य-विशेष की व्याख्या करने को भावावेश में ही लिखे जाते हैं। हाँ, भारतेंदु के नाटकों में 'स्वगत' अवतरण बहुत से हैं। नाटक के ऐसे ही अनुच्छेदों में इति-

हास के साधारण वर्णन में तथा अन्य छोटे-छोटे लेखों में इस शैली के दर्शन होते हैं। उदाहरण देखिए—

इसका प्रकृत नाम फखरुद्दीन अलगखाँ था। पहले यह बड़ा बुद्धिमान और बड़ा दानी था। हजार दर का महल बनवाया। मुगलों से सुलह किया और दक्षिण में अपना अधिकार फैलाया। पर पीछे से ऐसे काम किये कि लोग उसे पागल समझने लगे। हुक्म दिया कि दिल्ली की प्रजा मात्र दिल्ली छोड़ कर देवगढ़ में रहे, जिसको दक्षिण में दौलताबाद के नाम से बसाया था। इसका फल यह हुआ कि देवगढ़ तो न बसा किन्तु दिल्ली उजड़ गई। अन्त में फिर दिल्ली लौट आया। फारस और खुरासान जीतने के लिये तीन लाख सत्तर हजार सवार इकट्ठे किये, इनमें से एक लाख को चीन लेने के लिए भेजा, ये सबके सब हिमालय में नष्ट हो गये, कोई न बचा।

—बादशाह दर्पण (इतिहास)

यही भारतेंदुजी की परिचयात्मक शैली है। इसका एक उदाहरण और देख लेने पर इसकी विवेचना सरलता से समझ में आ सकेगी—

अब नहीं करने से क्या होता है विचार तो करना ही होगा और फिर इसमें दोष क्या है, जैसा तुम्हारा दिव्य राजा के कुल में जन्म है वैसा ही दिव्य संन्यासी मिल जायगा, मैंने तो चाँद का टुकड़ा वर खोज लिया था पर तू कहती है कि रानी से उसका समाचार ही मत कह तो अब कौन उपाय करूँ—अच्छा है जैसी तुम्हारी चोटी है कुछ उससे भी लंबी उसकी दाढ़ी है सिर पर बड़ी भारी जटा है और सब अंग में भभूत लगाये है ऐसे जोगी नित्य-नित्य नहीं आते—अहाहा कैसा अद्भुत रूप है!

—विद्यासुंदर (नाटक)

भारतेंदुजी की इस परिचयात्मक शैली में न तो संस्कृत के कठिन शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है और न फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार ही है। यह उस समय के संस्कृत-प्रधान तथा अरबी-फारसी-प्रधान दोनों भेदों के बीच का मार्ग था। इस शैली की

सुबोधता से हमें इसका प्रचार होने की भी आशा होती है। यही आशा भारतेंदु जी को थी और इसी उद्देश्य से इन्होंने भाषा का यह रूप अपनाया भी था। इस शैली में वाक्य छोटे-छोटे हैं और मुहावरों का भी सुंदर प्रयोग किया गया है जिससे भाषा में सजीवता आगई है। दूसरे उदाहरण में अन्तिम वाक्य का व्यंग्य कैसा मधुर है! यह उनकी प्रकृति का द्योतक माना जा सकता है।

भावात्मक शैली

भारतेंदुजी को भारतवर्ष और भारतवासियों की दुर्दशा देखकर दुख और स्वयं भारतवासियों को ही अपने भाइयों पर अत्याचार करते देखकर क्षोभ और क्रोध होता था। इसी प्रकार अन्य सुखद अवसरों पर वे प्रेम में मग्न हो जाते थे। हृदय के इन्हीं दुख, क्षोभ, क्रोध, स्नेह, प्रेम आदि भावों को हम, भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चंद्रावली, विद्या सुन्दर आदि नाटकों में देख सकते हैं। दुख क्षोभ, क्रोध, आदि के कारण, भावावेश में प्रायः उनकी भाषा बहुत जोरदार, हृदय-स्पर्शी और भावपूर्ण हो जाती थी। उदाहरण—

झूठे, झूठे, झूठे! झूठे ही नहीं, विश्वासघातक! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठा कर लोगों को विश्वास दिया। आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते। बखेड़िए! और इतने बड़े कारखाने पर बेईमानी पहले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने आप मारे-मारे फिरें, पर वाहरे शुद्ध बेहयाई पूर्ण निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के, पीट-पाट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं, लाज की हाय भी नहीं जाती। हाय! काहे को मिलेंगे ऐसे बेशरम!

ऊपर के अवतरण की शक्ति-विशेषता प्रकट ही है। ऐसे स्थल उनके प्रायः सभी प्रमुख नाटकों में मिलते हैं। पाठक पर इस शैली का विशेष प्रभाव पड़ता है।

गवेषणात्मक शैली

इस शैली के प्रधानतः दो रूप हैं। एक तो साहित्यिक लेखों में पाया जाता है और दूसरा ऐतिहासिक लेखों में। इन दोनों में विशेष अन्तर यह है कि प्रथम

में कुछ सरसता है और द्वितीय में शुष्कता। साहित्यिक शैली का उदाहरण यह है—

किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी व चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है। यद्यपि महामुनि भरतप्रणीत नाट्य-शास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन उपादान किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखलाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु, अध्ययन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंतःपटी परिवर्तन द्वारा वन, उपवन या पर्वतादि की प्रतिवर्ग के अपवाद के भय से श्री राम-कृत सीता-परिहार के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राजप्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता? इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्तन द्वारा पूर्व काल में यह सब अवश्य दिखाया जाता था।

—नाटक (साहित्यिक लेख)

भारतेंदुजी ने नाटक-रचना-प्रणाली के विषय में 'नाटक' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसी में प्रतिकृति के तथ्यातथ्य-निरूपण में उन्होंने उक्त वाक्य लिखे हैं। इस अवतरण की भाषा परिचयात्मक अथवा भावात्मक शैली की भाषा से भिन्न है। इसमें न तो फारसी के शब्दों का प्रयोग ही किया गया है और न छोटे-छोटे वाक्य ही लिखे गये हैं। इसका कारण विषय की गंभीरता है। अब दूसरा उदाहरण देखिए जिसमें उदयपुर के प्राचीन इतिहास का गवेषणापूर्ण अनुसंधान किया गया है—

बप्पा ब्राह्मणगण का गोचारण करते थे। उनकी पालित एक गऊ के स्तन में ब्राह्मणगण ने उपर्युपरि कियद्दिवसि तक दुग्ध नहीं पाया, इसमें संदेह किया कि बप्पा इस गौ को दोहन करके दुग्धपान कर लेते हैं। बप्पा इस अपवाद से अति क्रुद्ध हुए किन्तु गऊ के स्तन में स्वरूपतः दुग्ध न देखकर ब्राह्मणगण के संदेह को अमूलक न कह सके। पश्चात स्वयं अनुसंधान करके देखा कि यह गऊ प्रत्यह एक पर्वत-गुफा में जाया

करती थी और वहाँ से प्रत्यागमन करने से उसके स्तन पयः-शून्य हो जाते हैं। बप्पा ने गऊ का अनुसरण करके एक दिन गुहा में प्रवेश किया और देखा कि उस बेतस वन में एक योगी ध्यानावस्था में उपविष्ट है।

—उदयपुरोदय (इतिहास)

गंभीर शैली के उक्त दोनों अवतरणों की शुद्ध संस्कृत प्रधान भाषा देखने से स्पष्ट होता है कि तथ्यातथ्य का निरूपण करने के लिये ही भारतेंदुजी ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है और भाषा की गंभीरता का मुख्य कारण विषय का गंभीर होना है। ऐसे विषयों की सम्यक् विवेचना करते समय परिचयात्मक शैली का सरल प्रवाह नहीं रह जाता। परन्तु ऊपर दिये हुए ऐतिहासिक अवतरण के विषय में हमें एक बात और कहनी है। यद्यपि इस पुस्तक, 'उदयपुरोदय' से उनकी 'पुरावृत्तानुसंधान-प्रेम तथा मनन-शीलता' अवश्य प्रकट होती है तथापि हमें उसकी भाषा में कृत्रिमता की झलक मिलती है। कारण, हमारी सम्मति में, उक्त विषय उतना गहन नहीं था जितना बना दिया गया है।

हास्य और व्यंग्य का पुट

भारतेंदु हरिश्चंद्रजी के पहले तक हिंदी-गद्य में हास्य और व्यंग्य प्रायः मिलता ही नहीं है। परन्तु इस समय जब साहित्य में दलबंदियाँ आरंभ हो गईं तब अपने विपक्षी की बातों का उत्तर देने और समाज तथा धर्म-क्षेत्र में फैले हुए पाखंडियों की पोल खोलने के लिये, हास्य और व्यंग्य की आवश्यकता भी भारतेंदु जी ने समझी। साहित्य का प्रचार-कार्य जितना हास्य और व्यंग्यपूर्ण रचनाओं से हो सकता है उतना गंभीर अध्ययन की कृतियों से नहीं। इसलिये भी रचनाओं में हास्य और व्यंग्य की पुट अनिवार्य हो जाती है। तीसरी बात यह कि कोई भी मनुष्य सदैव गंभीर विषयों का मनन नहीं कर सकता इन्हीं सब कारणों से भारतेंदु जी ने अपनी रचनाओं को हास्य और व्यंग्य की पुट देकर विशेष रोचक बनाया है। यहाँ ऐसे दो एक छोटे-छोटे अवतरण पाठकों के मनोरंजन के लिये दिये जाते हैं—

इतने में कोलाहल हुआ—लाट साहब आते हैं। राव नारायण दास साहिब ने फिर अपने मुख को खोला और पुकारे 'स्टैंडअप' (खड़े हो जाव)। सब के सब एक संग खड़े हो गये। राय साहब का 'सिट डौन' कहना तो सब को अच्छा लगा पर 'स्टैंडअप' कहना सब को बुरा लगा—मानो भले बुरे का फल देनेवाले राय साहिब ही थे। इतने में फिर कुछ आने में देर हुई और सब लोग बैठ गये। वाह-वाह दरबार क्या था 'कठपुतली का तमासा था' या बल्लमटेरों की कवायद थी या बंदरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या फौज-दारी की सजा थी।

—'लेवी प्राण लेवी'

इस अवतरण का सरल हास्य कैसा सजीव है! साथ ही दरबार में पहुँचने वालों की परेशानी भी दिखाई दे जाती है। अब दूसरा उदाहरण लीजिये—

फिर महाराज जो धन की सेना बची थी उसको जीतने को भी मैंने बड़े बाँके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने दुश्मन को सारी फौज तितर-बितर करदी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि बंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब छकाया। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चंदे के ऐसे बम के गोले चलाये कि 'बम बोल गई बाबा की चारों दिस' धूम निकल पड़ी। भोला भाई बनाकर मूड़ लिया। एक तो खुद ही यह सब पड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया। बराबरी का झगड़ा उठा, धायँ-धायँ गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई गई, बस हाथी के खाए कैंत हो गये। धन की सेना भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र पार ही शरण मिली।

—भारत दुर्दशा

इस परिच्छेद में बड़ा मीठा व्यंग्य है। हमारे भारत की दुर्दशा का एक सत्य कारण बताया गया है। भारत के धन की सेना को क्या
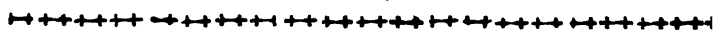
आज अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश ने नहीं लूट लिया है ? हमारी भागी हुई धन-सेना को सात समुद्र पार आज शरण नहीं मिली है ? आज से ५०-६० वर्ष पहले यह बात भारतेंदु-सरीखे देशभक्त को ही सूझ सकती थी। इस अवतरण में आये हुए मुहावरों का सुंदर प्रयोग देखिए। उनसे भाषा में जो सजीवता आ गई है, देखते ही बनती है।

मुहावरों का प्रयोग

मुहावरों और लोकोक्तियों का जो प्रयोग ऊपर दिये हुए, विशेष कर अंतिम अवतरण में मिलता है वैसा ही उनकी प्रायः सभी रचनाओं में हम पाते हैं। इनके प्रयोग से, भाषा में सजीवता और शक्ति आ जाती है। 'बहुतेरे भाव इनके प्रयोग से खिल उठते हैं और भाव-व्यंजन में बड़ी सुगमता हो जाती है। मुहावरे में थोड़े शब्दों में अधिक बातें समाविष्ट रहती हैं।' यही बात लोकोक्तियों के विषय में भी कही जा सकती है। भारतेंदुजी इनकी शक्ति को समझते थे। इसीसे उन्होंने चने चबाना, गूँगे का गुड़, मुँह देखकर जीना, आँखें भर आना, नजर चुराना, छाती ठंडी होना, छापा मारना, अंधे की लकड़ी, कान न दिया जाना, झख मारना, बात लगाना, पाले पड़ना, जी से उतरना, आँख लगाना, नीचा दिखाना, कुछ न गिनना, रंग में मस्त रहना, सोलहो दंड एकादशी, कोख में आग लगाना, कलेजे पर सिल रखना आदि मुहावरों का सुंदर प्रयोग किया है। लोकोक्तियाँ भी इनकी रचना में बहुत-सी मिलती हैं।

भारतेंदु जी की भाषा

भारतेंदु जी ने एक स्थान पर कहा है—हिंदी नई चाल में ढली सन् १८१३ में। उस वर्ष की सब से महत्त्वपूर्ण बात है 'हरिश्चंद्र मैग-जीन' का प्रकाशन। यदि भारतेंदु जी ने इसी की ओर संकेत किया है तो हमें इसकी भाषा का नमूना देखना पड़ेगा।

हम सर्कार से और अपने सब आर्य भाइयों से हाथ जोड़ निवेदन करते हैं इसको सब लोग एक बेर चित्त देकर और हठ छोड़ कर सुनें।

यदि सर्कार कहे कि हम धर्म के विषय में नहीं बोलते तो उसका हमसे पहले उत्तर सुन ले। सती होना हमारे यहाँ स्त्रियों का परमधर्म है इसको सरकार ने बलपूर्वक क्यों रोका है? क्योंकि धर्म प्राण से संबंध रखता है और प्रजा के प्राण की रक्षा राजा को सबसे पहले मान्य है। वैसे ही जो हम कहेंगे उससे भी प्रजा के प्राण से संबंध है इससे सर्कार को अवश्य सुनना चाहिए।

भारतेंदु जी की इस भाषा में हमें न तो लल्लूलाल का व्रजभाखा-पन दिखाई देता है और न सदल मिश्र का पूर्वीपन। ही मुन्शीसदासुख-लाल की पंडिताऊ भाषा के भी भारतेंदु जी पक्ष में भाषा के पूर्व रूप नहीं थे। राजा शिवप्रसाद के उर्दूपन के तो वे विरोधी थे ही, साथ ही राजा लक्ष्मणसिंह की विशुद्धता का भी उन्होंने अनुकरण नहीं किया। अंतिम बात मार्के की है। उनके प्रादुर्भाव के समय हिंदी के दो प्रधान रूप प्रचलित थे। पहला, राजा लक्ष्मणसिंह का संस्कृत-प्रधान रूप जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक होता था। और दूसरा सरल भाषा का प्रचलित रूप। कालांतर में, कारण विशेष से, राजा शिवप्रसाद ने उस सरल रूप अरब-फारसी के तत्सम शब्द भरना आरंभ कर दिए। यों, हिंदी के तीन प्रधान रूप हो गए। पहला, राजा लक्ष्मणसिंह का संस्कृत की तत्समता से प्रभावित; दूसरा, अरबी-फारसी की तत्समता से प्रभावित; और तीसरा, प्रचलित भाषा का सरल रूप। अंतिम अर्थात् सरल भाषा में ही अरबी-फारसी के शब्द भर, राजा शिवप्रसाद ने भाषा को नवीन रूप दिया था। यही बात, ठीक इसके विपरीत, राजा लक्ष्मण-सिंह ने की थी; उन्होंने अरबी-फारसी के स्थान पर संस्कृत के शब्दों को अपनाया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के ये दोनों रूप प्रकृत नहीं हो सकता था।

भारतेंदु जी की साहित्य-सेवा का उद्देश्य अपना मनोरंजन करना न होकर जनसाधारण को उन्हीं की दशा से परिचित करा कर साहित्य की उन्नति करना था। इस कार्य में उन्हें सफलता तभी

भारतेंदु की भाषा का रूप

मिल सकती थी जब वे जनता की भाषा में ही अपने भाव प्रकट करते। यही उन्होंने किया भी। भाषा के दोनों कृत्रिम अप्रचलित रूपों को छोड़कर उन्होंने तीसरे सरल और प्रचलित रूप को ग्रहण किया; मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। उनकी इस भाषा में अरबी-फारसी के वे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो हिंदी भाषा में घुल मिल गए थे। जनानः, नाराज, हफ्तः, मसालः, खुर्माः, चाशनी, खफगी, ज्यादः आदि अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों का प्रयोग न कर उनका प्रचलित रूप, यथा, जनाने, नाराज, हफ्ता, मसाला, खुरमा, चासनी, खफगी, जादे आदि, अपनाए हैं। तफन, कलेजा, जाफत, खजाना, आदि शब्द भी प्रचलित रूप में ही अपनाए गए हैं, उनके नीचे नुकता नहीं दिया गया है। इसी प्रकार अँगरेजी के टिकट, अँधरी मजिस्टर, कमेटी, पतलून, किरातनी आदि शब्द भी जैसे बोले जाते हैं वैसे ही लिखे गए हैं; उनका शुद्ध रूप लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया है। संस्कृत के भी जजमान, मूरत, नहान, आपस, गुनी, अच्छे, आस, भलेमानस, हिया, लच्छन, जोतसी, आँचल, जोबन, अगनित, अचरज, प्रभृति शब्द हिंदी में घुल-मिल कर उसी के हो गए हैं। भारतेंदु जी ने इनका प्रयोग भी इसी रूप में किया है; तत्सम में नहीं। उनके ये रूप कानों को किंचितमात्र भी अखरने वाले नहीं हैं। इनका प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया गया है। इन तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या न्यूनता आ गई हो यह बात भी नहीं है; वरन्, इसके विपरीत, भाषा और भी व्यवहारिक और मधुर हो गई है। इनका प्रयोग इतने सामान्य और चलते ढंग से हुआ है कि रचना की अधिकता में इनका पता नहीं लगता। इस प्रकार बाबू साहब ने दोनों शैलियों के बीच ऐसा सफल सामंजस्य स्थापित किया कि भाषा में एक नवीन जीवन आ गया और उसका रूप और भी व्यावहारिक तथा करल हो गया। यह भारतेंदु जी की नई उद्भावना थी। यही उनकी प्रमुख विशेषता है।

भारतेंदु जी की भाषा में कुछ दोष भी हैं। उनका प्रधान कारण

भाषा का प्रारंभिक अविकसित और अपरिष्कृत अवस्था में होना था। उन दोषों से अपनी भाषा को बचाना भारतेंदु जी के लिए भी संभव न था। अतः उनको छोड़ कर यहाँ उनकी भाषाशैली उन्हीं विशेषताओं की विवेचना की गई है जिसके कारण पंत जी ने अपनी यह पंक्ति लिखी थी—

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण।

———— —

पंडित प्रतापनारायण मिश्र

(सन् १८५६–९४)

पंडित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सन् १८५६ में हुआ था। उनके पिता पंडित संकटाप्रसाद जी ज्योतिषी थे और पुत्र को भी ज्योतिर्विद ही बनाना चाहते थे; पर मस्त-तबियत बालक को जन्म-पत्र बनाने और ग्रह-नक्षत्र की गणना का झंझट पसंद न था। तब पिता ने उसे अँगरेजी स्कूल में भर्ती कराया। यहाँ भी बालक का मन पहाड़े और 'स्पेलिंग' रटने में न लगा। फिर यह बालक पादरियों के स्कूल में भेजा गया। लेकिन वहाँ भी वह बहुत दिन तक न टिक सका। हाँ, स्कूल जाने से एक लाभ यह अवश्य हुआ कि बालक प्रतापनारायण को हिन्दी और संस्कृत पढ़ने का शौक हो गया। धीरे-धीरे, घर पर पढ़ कर उसने उर्दू, फारसी, संस्कृत, बँगला आदि भाषाएँ सीख लीं।

परिचय

मिश्रजी ने लेख लिखे हैं और कविताएँ भी की हैं। पत्र के वे संपादक भी थे और हिंदी का प्रचार भी किया करते थे। पर उनका वास्तविक महत्त्व साहित्यिक लेखों के कारण ही है। उनके लेखों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि हास्य और व्यंग्यपूर्ण ढंग से वैसे लेख हिंदी में, उनके पहले ही नहीं उनके बाद भी बहुत कम लिखे गये हैं। निबंध-लेखन-कला की दृष्टि से इस क्षेत्र में उन्हें बड़ी सफलता मिली है।

हिंदी-सेवा

मिश्रजी की कविता उद्देश्यपूर्ण और सामयिक, दोनों प्रकार की है। यद्यपि जनता ने उनकी कविता का उस समय आदर किया था, पर वह बहुत उच्च कोटि की नहीं है और आज-कल के विद्यार्थी तो शायद उसे पसन्द ही न करेंगे।

(अ) अनुवाद—'राजसिंह', 'इंदिरा', 'राधारानी', 'युगलांगुरीय' 'चरिताष्टक', 'पंचामृत', 'नीतिरत्नावली', 'कथाकाला', 'संगीतशाकुंतल'

'वर्णपरिचय'—तृतीय भाग, 'सेन वंश का इति-
मिश्रजी के ग्रंथ हास', 'सूबे बँगाल का भूगोल।'

इनमें से पहली चार पुस्तकें बँगाल के सुप्रसिद्ध लेखक बंकिम बाबू के उपन्यासों के अनुवाद हैं। पांचवीं पुस्तक में बंगाल के आठ महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं। आठवीं और दसवीं पुस्तक ईश्वरचन्द्रजी विद्यासागर की पुस्तकों के अनुवाद हैं। शेष पुस्तकों का परिचय नाम से ही मिल जाता है। इनमें संगीत शाकुंतल नामक पुस्तक अच्छी है।

(आ) नाटक—'कलिप्रभाव', 'हठी हमीर' और 'गो-संकट'।

(इ) समय—'कलिकौतुक' और 'भारत-दुर्दशा।'

(ई) काव्य—'मन की लहर', 'शृंगार-विलास', 'लोकोक्तिशतक', 'आडला-स्वागत', 'तृप्यंताम' और मानस-विनोद।

(उ) संग्रह—'प्रताप-संग्रह' और रसखान-शतक।

(ऊ) आल्हा—'दंगल-खंड'।

(ए) प्रहसन—जुआरी-खुआरी प्रहसन।

साहित्यिक दृष्टि से इन पुस्तकों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इनके नाटक और रूपक भी साधारण कोटि के ही हैं। हाँ, भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटकों में जो राष्ट्रीयता और सामाजिक सुधार की झलक पाई जाती है और नाटक साहित्य को समयोपयोगी बनाने के लिए जिस पद्धति का उन्होंने प्रचार किया, मिश्रजी के नाटकों में उसका अनुकरण और समावेश सन्निहित है। कविताओं में 'तृप्यंताम' उपदेशात्मक है। उसमें देश की दशा का चरित्र चित्रित किया गया है। 'लोकोक्ति शतक' में एक-एक कहावत पर एक-एक पद्य है। इसमें ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण स्वयं कोई कहावत है। दोनों संग्रह भी साधारण ही हैं।

मिश्रजी के विचार स्वतंत्र थे। समाज और धर्म के क्षेत्र में बढ़ती हुई कुरीतियों का वे सुधार करना चाहते थे। इसी प्रकार हिंदी-सेवा भी उनके जीवन का उद्देश्य था, उर्दू से हिंदी का पीछा छुड़ा कर उसका प्रचार करने के लिये वे तन, मन, धन से तैयार रहते थे। सामाजिक-

मिश्र जी के प्रिय विषय
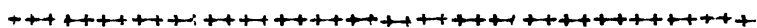
धार्मिक-सुधार तथा हिंदी-प्रचार की ये बातें उनके समय में महत्त्वपूर्ण समस्याएँ बन गई थीं। अतः जो लेख मिश्रजी ने इन समस्याओं को लेकर लिखे हैं उन्हें 'सामयिक' कह सकते हैं। 'शिवमूर्ति', 'धरतीमाता', 'खुशामद', 'होली है', 'सोने का डंडा और पौंडा' आदि लेख ऐसे ही हैं। इनके अतिरिक्त मिश्रजी ने, 'वृद्ध', 'भौं', 'दांत', 'बात', 'आय', 'काल' आदि कुछ साहित्यिक लेख भी लिखे हैं। निबन्ध-कला की दृष्टि से द्वितीय प्रकार के लेख अपेक्षाकृत सुन्दर हैं।

मिश्रजी की शैली दो प्रकार की है। पहले में गम्भीरता की पुट है और दूसरा रूप हास्य और व्यंग्यपूर्ण है। पहले प्रकार की शैली के

मिश्रजी की शैली

उदाहरण मुख्यतः उनके शुद्ध साहित्यिक लेखों में मिलते हैं, यद्यपि उनमें भी वे अधिकांश स्थलों पर गम्भीर नहीं रह सके हैं। इसका एक उदाहरण देखिए—

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं उन सबमें मन लगाना आवश्यक रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता से होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते, वह वास्तव में अच्छे काम भी हैं किन्तु भले प्रकार पूर्ण रीति से संपादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनन्द लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छंद रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में ध्यान मग्न रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ और अनर्थपूर्ण कर देता है।

मिश्रजी की गंभीर शैली का यह सुन्दर उदाहरण है। जान पड़ता है लेखक हास्य से बहुत बचाकर यह परिच्छेद लिख रहा है। यों, मिश्रजी ने गम्भीर विषयों की विवेचना भी हास्य-पूर्ण शैली में ही की है परन्तु कभी-कभी गम्भीर विषय के फलस्वरूप उनकी भाषा संयत एवं गम्भीर हो जाती है। देखिये—

अकस्मात् जहाँ पढ़ने-लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को
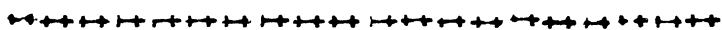
सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, जो चेत् दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इससे सब कर्तव्यों की भांति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्वकाल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास, उपाय दूर न कर सकें उस दशा में भी इतनी घबड़ाहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों को होती है। क्योंकि विचार शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख-दुःख सदा आया ही जाया करते हैं।

उक्त अवतरण जिस गम्भीर शैली में लिखे गये हैं, वह मिश्रजी की विनोदी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उनका सच्चा प्रयत्न तो सदा यह रहता था कि कैसा ही गम्भीर विषय क्यों न हो, उसका प्रतिपादन विनोदपूर्ण और मनोरंजक ढंग से ही किया जाय। इस बात को 'ब्राह्मण के उद्देश्य' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट लिख भी दिया था—

(क) हाँ, एक बात रही जाती है कि हममें कुछ औगुण भी हैं, सो सुनिए। जन्म हमारा फागुन में हुआ है और होली की पैदाइश प्रसिद्ध ही है। कभी कोई हँसी कर बैठे तो क्षमा कीजिएगा। सभ्यता के विरुद्ध न होने पावेगी।

इसी के आगे उन्होंने लिखा है—

(ख) वास्तविक वैर हमको किसी से भी नहीं है पर अपने करम लेख से लाचार हैं। सच कह देने में हमको संकोच न होगा। इससे जो महाशय हम पर अप्रसन्न होना चाहें पहिले उन्हें अपनी भूल पर अप्रसन्न होना चाहिए।

मिश्रजी के इन दोनों उद्देश्यों को ध्यान में रखकर हम उनके लेखों का अध्ययन करें तो हमें स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उनकी विनोदपूर्ण मनोरंजक शैली दो प्रकार की है—एक में हास्य और विनोद प्रधान है और दूसरे में व्यंग्य और कटाक्ष। सरसरी तौर से देखने पर उनकी शैली में हास्य-व्यंग्य का सुन्दर मिश्रण दिखाई देता है। मिश्रजी की

विनोदपूर्ण शैली के रूप

दूसरे प्रकार की शैली का वास्तविक रूप यही है और उनका कोई भी लेख लिया जाय, पाठक को इस शैली का उदाहरण मिल जायगा। यहाँ हम दो अवतरण दे रहे हैं—प्रथम में 'ब्राह्मण के उद्देश्य' (क) की प्रधानता है और दूसरे में (ख) की। पहला अवतरण—

यह तो समझिए यह देश कौन है? वही न जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी, दो एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल वा खड्ग वा धनुष से खाली नहीं हैं, जहाँ धर्म-ग्रंथों में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहाँ शृंगार-रस में भी भूचाल और कटाक्ष-बाण, तेग-अदा व कमाने अब्रू का वर्णन होता है। यहाँ से लड़ाई-भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना यानी सर्वनाश हो जाना है। अभी हिन्दुस्तान में कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भांति वीरता भी लस्टम-पस्टम बनी ही है। पर क्या कीजिए अवसर न मिलने ही से 'बँधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गए तोंदिआय'।

यह अवतरण 'दशहरा और मुहर्रम' शीर्षक लेख से लिया गया है। व्यंग्य के साथ विनोद का सुन्दर पुट प्रत्यक्ष परिलक्षित है। वास्तव में, मिश्रजी ने किसी बात को सीधे-सादे ढंग से नहीं कहा, यद्यपि उनकी भाषा प्रायः सदैव सीधी-सादी और सरल होती थी। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों हम उनके लेख पढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारी उत्सुकता बढ़ती जाती है। इस शैली की यही विशेषता है।

दूसरा अवतरण—

यह कलजुग है। बड़े-बड़े बाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मन, प्राण सब स्वाहा हो जाय तो बला से! पर थोड़ी देर उसकी तरंग में हाथी मच्छर, सूरज जुगनू दिखाई देता है। इससे और मनोविनोद के अभाव में उसके सेवकों के लिए कभी-कभी उसका सेवन करना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त बने बैठना। सुनिए! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि नियम-विरुद्ध बर्ताव न किया
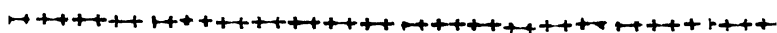
जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता का कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दोनों गुणों की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

—प्रताप समीक्षा पृष्ठ १३६

यह उद्धरण 'होली है' शीर्षक लेख से लिया गया है। मदिरा पीने वाले अपने पक्ष में जो बातें किया करते हैं उनकी कितनी कटाक्षपूर्ण मार्मिक व्याख्या है। यह सारा लेख इसी शैली में लिखा गया है।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों में शैली-विषयक दो विशेषताएँ हमें मिलती हैं। पहली विशेषता है, मुहावरों और कहावतों का सुन्दर और समयानुकूल प्रयोग करना। साधारण मुहावरों

मुहावरे और कहावतें का जैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग मिश्रजी ने किया है वैसा हिंदी के अन्य लेखकों की रचनाओं में बहुत कम देखने को मिलता है। कहीं-कहीं तो इनकी झड़ी-सी लग गई है। देखिये—

डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में, चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आपड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। 'बात ही हाथी पाइये बाते हाथी पाँव।' बात ही से पराये अपने और अपने पराए हो जाते हैं।

—प्रताप समीक्षा पृष्ठ १०६

मुहावरों के प्रयोग के बाहुल्य की बात तो जाने दीजिए, उनके कई लेखों के शीर्षक भी मुहावरे या कहावत ही हैं। यथा—'मरे को मारै साह मदार' 'ऊँच निवास नीच करतूती' 'घूरे के लत्ता बिन्ने कनातनका डौल बाँधें', 'जानें न बूझें कठौता लेकर जूझें', 'टेढ़ जानि शंका सब काहू।'

उनकी शैली की दूसरी विशेषता है उनकी रचनाओं में उनके

व्यक्तित्व की छाप। इसका तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों हम उनके लेख पढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों हम उनके व्यक्तित्व से परिचित होते जाते हैं तथा उनके स्वभाव की अन्य विशेषताएँ जानने की इच्छा प्रबल होती जाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैसा उनका जीवन सरल और सीधासादा था उसी प्रकार शैली में भी अपनी विद्वता प्रदर्शित करके कृत्रिमता लाने की चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की। जब कृत्रिमता रही नहीं, तब हम उनकी रचनाओं में सरलता पाते हैं। यही एकरूपता और सरलता मिश्रजी की शैली की घनिष्ठता का प्रधान कारण जान पड़ती है।

व्यक्तित्व की छाप

अपनी इस अंतिम विशेषता के कारण ही मिश्रजी ने अपने समकालीन हिंदी-साहित्य-सेवियों में अपना विशेष स्थान बना लिया है।

मिश्रजी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र की तरह ही, जनसाधारण की प्रचलित भाषा को अपनाया; पर भारतेंदु की भाषा में जितनी गहरी नागरिकता की छाप है, मिश्रजी की भाषा में उतना ही ग्रामीणता का पुट है। साथ ही, उन्होंने अपनी जन्मभूमि में प्रचलित घरेलू शब्दों और मुहावरों का निःसंकोच प्रयोग किया है जिससे पूर्वीपन की झलक भी उनकी भाषा में मिलती है। 'आनन्द लाभ करता है', 'तो भी', 'बात रही', 'शरीर भरे की', 'चाय की सहायता से', 'कहाँ तक कहिए', 'हैं कै जने' आदि प्रयोगों से पंडिताऊपन और ग्रामीणता झलकती है। बात यह है कि यदि उन्हें कभी अपना भाव प्रकट करने के लिए हिंदी का कोई उचित शब्द न मिलता तो वे संस्कृत या फ़ारसी शब्दों का प्रयो। न करके पहले ग्रामीण शब्दों द्वारा अपना भाव व्यक्त करने की चेष्टा करते और यदि कृत-कार्य न होते, तो संस्कृत के अधिक प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते; यदि कभी संस्कृत का शब्द ठीक न मिलता तो अरबी, फारसी के अति प्रचलित शब्द जो हिंदी से इतने घुल-मिल गए हैं कि विदेशी जान ही नहीं पड़ते, ढूँढ़ते। 'नेचर' 'टाइप' 'मेमो-

मिश्रजी की भाषा

रियल' 'नेटिव' आदि अँगरेजी शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने किया है, पर बहुत कम।

मिश्रजी ने कुछ शब्दों के इमले की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। 'रिषि', 'रितु', 'ग्रहस्त', 'लेखनी' 'औगुण' आदि शब्दों को उन्होंने इसी तरह से लिखा है। कहीं-कहीं पर व्याकरण संबंधी दोष भी मिलते हैं। विराम-चिन्हों का प्रयोग भी उन्होंने कम किया है। फिर भी मिश्रजी की भाषा में सजीवता और चलाऊपन है कि पाठकों का ध्यान उसकी रोचकता और सादगी की ओर खिंच ही जाता है। उनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

भाषा के कुछ दोष

यदि सचमुच हिंदी का प्रचार चाहते हो, तो आपस के जितने कागज़-पत्तर, लेखा-जोखा, टीम-तमस्सुक हों सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिंदुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्लाह कराते हैं, उनके यहाँ पंडितों से अक्षरारंभ कराने का उपकार करो। चाहे कोई हँसे, चाहे धमकावे, जो हो सो हो, तुम मनसा-वाचा-कर्मणा से उर्दू को लू-लू देने में सन्नद्ध हो। इधर सरकार से भी झगड़े-खुशामद करो, दाँत निकालो, पेट दिखाओ, मेमोरियल भेजो, एक बार दुतकारे जाओ, फिर धरने दो; किसी भाँति हतोत्साह न हो, हिम्मत न हारो, जो मनसाराम कचियाने लगे तो यह मन्त्र सुनादो...... बस फिर देखना पाँच-सात बरस में फारसी छार-सी उड़ जायगी। नहीं तो होता तो परमेश्वर के किए है हम सदा यही कहा करेंगे 'पीसैं का चुकरा गावैं का छीता हरन' 'घूरे के लत्ता बिन्नैं कनातन का डौल बाँधैं'।

सीदी-सादी चलताऊ भाषा के इस उदाहरण में, हमें हिंदी-उर्दू-संबंधी आधुनिक आंदोलन के विषय में मिश्रजी के विचार भी मिल जाते हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट

(सन् १८४४-१९१४)

पंडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म सन् १८४४ में प्रयाग में हुआ था। बाल्यकाल में घर ही पर इन्हें संस्कृत की शिक्षा दी गई। पश्चात् ये मिशन स्कूल में अँगरेजी पढ़ने के लिए भेजे गए। स्कूल का

परिचय

हेडमास्टर एक पादरी था। एक बार उसने कुछ वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और पूर्ववत् संस्कृत ही पढ़ने लगे। इसी समय इन्हें जमुना मिशन स्कूल में अध्यापक की जगह मिल गई। परन्तु कुछ समय पश्चात् ही धार्मिक विषयों के कारण इन्हें यह स्कूल भी छोड़ना पड़ा। कुछ दिनों व्यापार करने की भी इन्होंने विफल चेष्टा की। अन्त में, सब छोड़ कर ये हिंदी-साहित्य-सेवा करने लगे और कुछ ही समय में इनकी गिनती प्रसिद्ध लेखकों में की जाने लगी। उस समय भी इनका अध्ययन कार्य चल रहा था।

सन् १८७६ में प्रयाग की हिंदी-वर्द्धिनी नामक सभा ने 'हिंदी-प्रदीप' नाम से एक मासिक-पत्र निकाला था। भट्टजी कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ इसके संपादक हो गए। इस पत्र को लगभग ३२ वर्ष तक ये चलाते रहे। इनके सहयोगी कुछ ही समय में पत्र छोड़ कर चले गए; फिर भी बड़ी लगन और परिश्रम से भट्टजी ने उसके द्वारा हिंदी की अभूतपूर्व सेवा की। 'हिंदी प्रदीप' के संबंध में इन्होंने कहा था—

इन बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छपवा दिये जायँ तो निस्संदेह हिंदी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय।

भट्टजी के इस कथन में बहुत कुछ सत्य है; विशेषकर इस कारण

कि उनके साहित्यिक लेख भी पहले 'हिन्दी-प्रदीप' में ही प्रकाशित हुए थे।

भारतेन्दु युग के प्रमुख लेखकों में साहित्यिक निबन्ध लिखने वाले पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट ही हैं। इन दोनों ने ही साहित्य के इस रिक्त अंग की पूर्ति के लिए यद्यपि सराहनीय प्रयत्न किया था; तथापि भट्टजी के लेख साहित्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर समझे जाते हैं। 'उनके लेखों से साहित्यिकता की आभा फूट-फूट कर निकलती है।' साहित्यिकता और कल्पना के मिश्रण ने उनके लेखों को और भी प्रिय बना दिया है। उनके लेखों में उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। इसी से उनके लेखों की तुलना अँगरेजी के सुप्रसिद्ध निबन्ध लेखक चार्ल्स लैंब के लेखों से की जाती है। 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'बाल्यकाल', 'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है', आदि लेख बड़े सुन्दर और हमारे साहित्य की स्थायी निधि हैं।

हिंदी-सेवा
साहित्यिक
लेख

पंडित बालकृष्ण भट्ट

जिस गद्य-काव्य की ओर हमारे लेखकों और कवियों की रुचि बढ़ती जाती है, हिन्दी में उसके जन्मदाता हम भट्टजी को कह सकते हैं। संस्कृत के विद्वान होने के कारण जान पड़ता है, उन्होंने 'कादम्बरी' के ढंग पर अपने कुछ लेख लिखने का प्रयत्न किया था। उनकी गद्य-काव्य-

गद्य-काव्य के
जन्म दाता

पूर्ण रचनाओं में सरल और सरस प्रवाह है और कल्पना के सुन्दर पुटके कारण उनमें विशेष रोचकता आगई है।

भट्टजी ने लगभग ३२ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र का संपादन किया था। यह पत्र प्रधानतः साहित्यिक था, यद्यपि उसमें सामाजिक, तथा राजनीतिक घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले सामयिक तथा अन्य विषयों पर कौतूहल-वर्धक और रोचक लेख भी होते थे। यों उन्होंने हिंदी-पत्रों का 'स्टेंडर्ड' ऊंचा करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था।

साहित्यिक पत्र का संपादन

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने उपन्यास लिखने की चेष्टा की थी। उनके पश्चात् भट्टजी ने भी उपन्यास लिखे। इनका महत्त्व केवल इतना ही है कि ये हिंदी के प्रथम युग के उपन्यासों में से हैं। कथा को रोचक और भाषा को साहित्यिक बनाने का प्रयोग उन्होंने अपने उपन्यासों में किया है।

उपन्यास

भट्टजी की मुख्य विशेषता उनकी मौलिकता है। उन्होंने अपने ग्रंथों, विशेषतः लेखों के लिये किसी अन्य भाषा से प्रायः सहायता नहीं ली। इनके विचार इनके अपने हैं, किसी की छाया या अनुवाद नहीं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में जब हम हिंदी के निबंध-साहित्य में मौलिकता का सर्वथा अभाव-सा देखते हैं तब हमें भट्टजी की इस संबंध में महत्ता का अनुभव करके चकित रह जाना पड़ता है।

मौलिकता

अपने पत्र के लिये सामग्री के संकलन-संपादन मे भट्टजी इतने व्यस्त रहते थे कि मौलिक ग्रंथों की रचना के लिये उन्हें समय न मिल पाता था; फिर भी पचीसों साहित्यिक लेखों सामयिक टिप्पणियों के अतिरिक्त उन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं।

'सौ अजान एक सुजान' (उपन्यास), 'साहित्य-सुमन', (सुंदर साहित्यिक लेखों का संग्रह),, नूतन ब्रह्मचारी'

भट्टजी के ग्रंथ (उपन्यास) 'रेल का विकट खेल', 'बाल-विवाह (नाटक) आदि इनकी पुस्तकें सुंदर हैं।

भट्टजी के ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने दो उपन्यास लिखे हैं और अनेक साहित्यिक लेख। उनके उपन्यासों तथा अन्य सामाजिक और सामयिक लेखों के विषय सरल

ग्रंथों के विषय

हैं और साहित्यिक लेखों के गंभीर। प्रथम प्रकार की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य सुधार-संस्कार और मनोरंजन था और साहित्यिक लेखों का ज्ञानार्जन।

बालकृष्ण भट्टजी ने ग्रंथों की रचना जिन दो उद्देश्यों को सामने रखकर की थी, उनके अनुसार रचना-शैली के भी दो प्रधान रूप दिखाई देते हैं।

(१) परिचयात्मक शैली। (२) गंभीर भावात्मक शैली। परिचयात्मक शैली की भाषा चलती हुई है जिसमें प्रवाह और सरलता है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं। इसका

भट्टजी की शैली— परिचयात्मक शैली

उदाहरण—

यह बात बड़ी पुरानी कहानी है। शिशुता की झलक के मिटते ही ज्योंही तरुणाई की गरमाहट का संचार होने लगता है कि यह अहेरी चारों ओर अपने अहेर की खोज में आँखें दौड़ाने लगता है। पर लाचार केवल इतने ही से हो जाता है कि किसी-किसी अवस्था में समाज के जटिल बंधन उसे ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह अपने स्वेच्छाचार को बर्ताव में नहीं ला सकता और कभी-कभी अपने हस्तगत शिकार को भी छोड़ बैठता है। यह नरपशु तभी तक सुमार्ग पर चलता है, तभी तक स्वभाव का सरल, विनीत और साधु है और तभी तक लोक-लाज, लोक-निंदा तथा अपवाद या राजदंड की यातना से बचा हुआ है, जब तक दब-सत में पड़ा हुआ अपने स्वेच्छाचार में प्रवृत्त नहीं होता।

—साहित्य सुमन, पृष्ठ ३०

यह परिचयात्मक शैली प्रायः उनके उपन्यास या कौतूहल-वर्धक
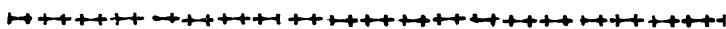
सरल निबंधों की है; अतः यह उनकी साहित्यिक शैली की प्रतिनिधि-स्वरूपिणी नहीं समझी जा सकती। इसका प्रधान कारण यह है कि उपन्यास या अन्य सरल विषयों पर निबंध लिख कर सुगम साहित्य का प्रचार करना ही उनकी साहित्य-सेवा का मुख्य उद्देश्य नहीं था; वे तो उच्चकोटि के निबंध लिखना चाहते थे क्योंकि उस समय हिंदी में, एक प्रकार से, ऐसे निबंधों का अभाव ही था। उनके इस कथन से भी कि—

प्रोज (गद्य) हिंदी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक प्रेम सागर-सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ है ही नहीं जिसे हम इसके साहित्य भंडार में शामिल करते। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिंदी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं।

यह स्पष्ट होता है कि हिंदी में गद्य-साहित्य का अभाव देखकर उन्हे बहुत दुख होता था। इसीलिये उन्होंने अनेक सुंदर साहित्यिक लेख लिखे हैं, जिनका संकलन 'साहित्य सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

भट्टजी के साहित्यिक निबंध प्रायः गंभीर भावात्मक शैली में लिखे गये हैं। इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता भाषा की शुद्धता है। साथ ही, ये आलंकारिक शैली के पक्षपाती भी प्रतीत होते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का प्रयोग इनके गद्य में बराबर मिलता है। इनका 'चंद्रोदय' नामक लेख तो रूपक, संदेह, उत्प्रेक्षा आदि से भरा हुआ है।' उदाहरण के लिए देखिए—

भावात्मक शैली

अथवा यह कालरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामंत्र है या अंधकार महाराज को हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है अथवा शृंगाररस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी है, या तारा-मौक्तिकों से गुँथे हार के बीच का यह सुमेर है, अथवा जंगम जगत मात्र को डसने वाले अनंग-भुजंग के फन
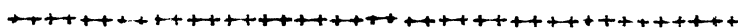
पर चमकता हुआ मणि है या निशा-नायिका के चेहरे की मुस्कराहट है, अथवा जगज्जेता कामदेव का धावा है, या तारा मोतियों की दो सीपियों में से एक सिपी है।

—साहित्य-सुमन, पृ० ६८ ६६।

यही भट्टजी की भावात्मक साहित्यिक शैली है जिसमें काव्य की-सी सुन्दर छटा दिखाई देती है। कल्पना की पुट से जो चमत्कार पैदा होकर उक्ति वैचित्र्य द्वारा हमारा मनोरंजन करता है वही इस शैली की प्रधान विशेषता कही जा सकती है। जब यह काव्यात्मक चमत्कार अधिक बढ़ जाता है तभी हमें उसमें गद्य-काव्य का सा आनंद आता है। 'चंद्रोदय' और 'आँसू' दोनों लेख इसके उदाहरण-स्वरूप माने जा सकते हैं। इन लेखों को देखकर कहा जा सकता है कि आगे चलकर मनोविकारों पर जैसे भावपूर्ण लेख शुक्लजी ने लिखे हैं वैसे ही लेख लिखने का प्रथम सफल प्रयत्न भट्टजी ने किया था। यही उनके लेखों का एक शब्द में महत्त्व है।

भट्टजी का हास्य सरल न होकर कुछ तीखा और मार्मिक हो जाता था। ऐसे अवतरणों की भाषा भी सरल और चलती हुई है। इसका एक छोटा-सा उदाहरण—

शैली में चुटीला व्यंग्य

सभ्यता और है ही क्या ? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, बनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाये जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वह जाति अर्द्ध शिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी, अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थपरता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं। जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।

—साहित्य-सुमन।
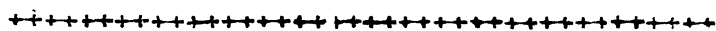
भट्टजी ने भी अपने युग के भारतेंदु तथा मिश्रजी आदि लेखकों की भाँति मुहावरों का बहुत सुंदर प्रयोग किया है। गंभीर लेखों मे भी इन्होंने मुहावरों की झड़ी-सी लगा दी है। 'बातचीत' जैसे गंभीर विषय पर गंभीर शैली को अपनाते हुए भी आपने एक स्थान पर लिखा—

मुहावरों का प्रयोग

वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न तो करतलध्वनि का मौका है, न लोगों के कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई, हँस पड़े। मुसकराहट से ओठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य सुनने वालों के मन में जोश और उत्साह पैदा करना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें बातचीत की सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

इनकी शैली में दो-एक अन्य बातें भी मार्के की हैं। मिश्रजी की ग्रामीणता के स्थान पर भारतेंदु की सी नागरिकता के दर्शन इनकी शैली मे होते हैं। हिंदी में कोष्ठबंदी का प्रयोग पहले-पहल भट्टजी ने ही किया था और विराम चिन्हों का समुचित प्रयोग भी उनके लेखों में मिलता है।

भाषा की दृष्टि से भट्टजी की शैली प्रधानतः दो प्रकार की है। एक में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है और दूसरी मिश्रित शैली है जिसमें संस्कृत शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी बराबर मिलता है तथा कहीं-कहीं पर अँगरेजी के शब्द भी तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। ऊपर दिये हुए अवतरणों को देखने से इन दोनों शैलियों से पाठक परिचित हो जायँगे विदेशी शब्दों के प्रयोग का मुख्य कारण उनका यह उद्देश्य था कि वे हिंदी-भाषा को इतना व्यापक बना देना चाहते थे जिससे सभी प्रकार के विषयों और भावों को प्रकट करने की क्षमता उसमें आ जाय।

भट्टजी की भाषा

अरबी-फारसी के साधारण प्रयोग—गिला, शिकवा, बेतकल्लुफी, नाज-नखरा, खमखाह, साबित, इनाम, बहाल, कौमियत, जुदे-जुदे फिरके, खिलवतगाह आदि—अँगरेजी के शब्द—

विदेशी शब्द Education, art of conversation, speech, society, pulpit, formality, standard, character, rude आदि तो उनकी भाषा में मिलते ही हैं 'Simple living and high thinking'. Always endeavour to be really what you would wish to appear' आदि अँगरेजी लोकोक्तियों के साथ-साथ हिंदी की कहावतों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। यही नहीं, हिंदी की व्यंजना-शक्ति बढ़ाने के लिये विदेशी भाषाओं विशेषकर अँगरेजी के प्रयोगों के आधार पर उन्होंने नये शब्द और मुहावरे गढ़े भी हैं। इस दृष्टि से उनका कार्य वास्तव में सराहनीय है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

(सन् १८६५-१९०७)

परिचय

गुप्तजी का जन्म सन् १८६५ में रोहतक जिले के गुरियानी गाँव में एक अग्रवाल वैश्य के घर में हुआ। आरम्भ में उन्होंने उर्दू तथा अरबी-फारसी की शिक्षा पाई और आगे चल कर उर्दू में ही आपने लिखना भी शुरू कर दिया। केवल २२ वर्ष की अवस्था में, सन् १८८५ में उन्हें 'अखबारे चुनार' का संपादक होने का अवसर मिल गया। यह अखबार मिर्ज़ापुर से उर्दू में निकलता था। दूसरे वर्ष वे लाहौर से निकने वाले 'कोहेनूर' नामक पत्र के सम्पादक हुए। इस समय तक हिंदी में भारतेंदु तथा उनके समकालीन व्यक्ति काम कर रहे थे। इनके तथा कुछ अन्य हिंदी-प्रेमियों के सदुद्योग से हिंदी-प्रचार-संबंधी आंदोलन चला। इससे कदाचित प्रभावित होकर ही गुप्तजी ने हिंदी में लिखना आरम्भ किया। इनको हिंदी-क्षेत्र में लाने का श्रेय पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा महामना पंडित मदनमोहन मालवीय को है। संपादन-क्षेत्र में आपका नाम तो हो ही चुका था; अतः हिंदी सीखते ही वे कालाकाँकर के 'हिन्दोस्तान' के संपादक बन गए। यह पत्र हिंदी का दैनिक था। कुछ समय पश्चात् वे 'बंगवासी' के सहकारी संपादक हुए। लगभग ५ वर्ष तक उन्होंने इस पर काम किया। तदुपरांत सन् १८९१ में कलकत्ते से प्रकाशि होने वाले 'भारत मित्र' के संपादक बने और मृत्यु-पर्यंत उसका संपादन करते रहे।

हिन्दी-सेवा

हिन्दी में आने के पहले गुप्तजी दो प्रसिद्ध उर्दू पत्रों का सम्पादन कर चुके थे और अरबी-फारसी का उन्होंने अध्ययन भी किया था। फलतः हिन्दी-भाषा को अपनाने पर उसे उन्होंने उर्दू की सजीवता

प्रदान की। यह वास्तव में बड़े सौभाग्य की बात थी कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि हिन्दी के प्रारम्भिक लेखक उर्दू भाषा के अच्छे विद्वान थे। इनकी, विशेष कर गुप्तजी की कृपा से हिन्दी को जो प्रवाह अथवा सजीवता प्राप्त हुई, वह कुछ समय बाद जन-साधारण में हिन्दी-प्रचार के कार्य में विशेष सहायक हुई।

हिन्दी-सेवा भाषा को सजीव बनाना

गुप्तजी हिन्दी-व्याकरण के भी पंडित थे। यहाँ तक कि एक बार तो वे पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदीजी से भी व्याकरण के पीछे भिड़ गये थे।* इससे हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु के युग के लेखकों की भाषा में जो व्याकरण सम्बन्धी दोष रह गये थे उनको दूर करने में गुप्तजी का भी थोड़ा बहुत हाथ अवश्य रहा—यद्यपि यह ठीक है कि गुप्तजी ने द्विवेदी जी की तरह इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य नहीं किया।

क्षेत्र में

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

गुप्तजी ने कुछ समालोचनात्मक लेख भी लिखे थे; कदाचित इसका कारण हिन्दी की तत्कालीन परिस्थिति थी। यद्यपि उन्होंने इस क्षेत्र में अधिक काम नहीं किया, तथापि अपनी प्रौढ़ोक्तियों द्वारा समालोचना की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया।

समालोचना कार्य

---

* इसका मनोरंजक वर्णन देखिए 'द्विवेदी मीमांसा' पृष्ठ ६७-८
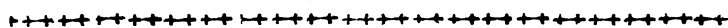
गुप्तजी ने भारत के इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था। उनके व्यंग्यात्मक लेख—'शिवशंभु के चिट्ठे'—इसके उदाहरण हैं। अपने

व्यंग्यात्मक लेख

लेखों में उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं की ओर तुलनात्मक संकेत करके बड़ी सुन्दर चुटकियाँ ली हैं। 'विचार-तरंग' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं—भारत, तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? कभी कोई हर्षसूचक बात दस बीस पलक के लिए चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिए। ऐसी सम्पादकीय चुटकियाँ पाठकों तथा अन्य लेखकों का ध्यान देश की वर्तमान दशा की ओर आकर्षित करने में समथ होती हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र में गुप्तजी ने ही उल्लेखनीय काम किया है।

नई शैली के जन्मदाता

गुप्तजी एक विशेष शैली के जन्मदाता थे। सरल और सजीव शैली में मनोरंजक ढंग से अनेक लेख लिख कर उन्होंने इस शैली को विशेष लोकप्रिय बना दिया है।

राजनीतिक लेख

नये प्रकार के व्यंग्यात्मक राजनीतिक लेख लिखने की प्रणाली इन्होंने चलायी। ये लेख पं० प्रतापनारायण मिश्रजी के व्यंग्यात्मक, सामाजिक लेखों का, देश काल की परिस्थिति के अनुकूल संस्कृत रूप समझे जा सकते हैं।

गुप्तजी के ग्रन्थ

यों तो गुप्तजी की रचित तथा अनुवादित पुस्तकें 'हरिदास', 'मडेल भगिनी', 'रत्नावली नाटिका' आदि बतायी जाती हैं, परन्तु इन का साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है। हाँ, इनके व्यंग्यात्मक लेख, जिनका संकलन 'शिवशंभु का चिट्ठा' के नाम से हुआ है, बड़े सुन्दर हैं। अतः यही उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ समझा जाना चाहिए।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्तजी ने मुख्यतः दो प्रकार के लेख लिखे हैं:—(१) राजनीतिक, (२) आलोचनात्मक, दूसरे प्रकार के
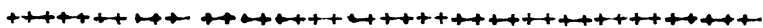
लेखों की संख्या बहुत कम है। ऐसे लेखों में 'भाषा की अस्थिरता' आदि दो-एक लेख ही प्रसिद्ध हैं। हाँ, पहले प्रकार के लेख संख्या में

ग्रन्थों के विषय

अधिक हैं। इनके विषय की विवेचना करने से गुप्तजी की शैली से हम बड़ी सरलता से परिचित हो सकेंगे। इन्हीं लेखों की शैली, कुछ परिष्कृत होकर उनकी आलोचनात्मक शैली बन जाती है।

गुप्तजी ने जिस शैली में अपने राजनीतिक और आलोचनात्मक लेख लिखे हैं उसे हम साधारणतः परिचयात्मक शैली कह सकते हैं।

गुप्तजी की शैली—परिचयात्मक शैली

इस शैली की विशेषता है छोटे-छोटे वाक्यों का इस प्रकार संगठन करना जिससे भाषा में विशेष प्रवाह रहे और लेख के प्रति पाठकों की रुचि बढ़ती जाय। गुप्तजी अरबी-फारसी के ज्ञाता थे और हिन्दी में लिखने के पहले उर्दू में लिखा करते थे तथा दो उर्दू पत्रों के संपादक भी रह चुके थे। यही कारण है कि हिन्दी भाषा को अपनाने पर उनकी शैली में उर्दू-जनित-प्रवाह आप ही आ गया। यह स्वाभाविक था और हिन्दी के लिए उपयोगी भी। उर्दू की चुलबुलाहट इनकी शैली की दूसरी विशेषता है जो पाठकों का मनोरंजन करती हुई चलती है। मुहावरों का प्रयोग तो उर्दू जानने वाले सब लेखक करते ही हैं। गुप्तजी ने भी उनका सुन्दर उपयोग करके अपनी शैली को सजीव बना दिया है। यह उनकी शैली की तीसरी विशेषता है।

राजनीतिक समस्याओं पर जब उन्होंने लिखना आरम्भ किया तब परिस्थिति के कारण उन्हें अपनी व्यावहारिक परिचयात्मक शैली को व्यंग्यपूर्ण बनाना पड़ा। इसका कारण समझने के लिए हमें इस कथन पर ध्यान देना चाहिए—

उन्होंने (कुछ चुगलखोर लोगों ने) 'कवि वचन-सुधा' (भारतेन्दु द्वारा संपादित और प्रकाशित) के कई लेखों को राजद्रोह पूरित बताया; दिल्लगी की बातों को भी वह निन्दा-सूचक बताने लगे। 'मरसिया' नामक एक लेख उक्त पत्र में छपा था। यार लोगों ने छोटे लाट

सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बन्द होगई। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर केंपसन साहब ने बिगड़ कर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चन्द्रजी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया। पर यहाँ यार लोगों ने जो रङ्ग चढ़ा दिया था वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चन्द्र की चलाई 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' और 'बाल-बोधिनी' नामक दो मासिक पत्रिकाओं की सौ-सौ कापियाँ प्रान्तीय गवर्नमेन्ट लेती थी, वह भी बन्द होगई।

—हिंदी के आरम्भिक अखबार।

यह कथन स्वयं गुप्तजी का है। वे जानते थे कि हिंदी पत्र यदि निर्भयतापूर्वक सरकारी कामों की आलोचना करेंगे तो उन्हें उसका कोपभाजन बनना पड़ेगा और जो सहायता गवर्नमेंट देती है वह तो बंद हो ही जायगी, कदाचित संपादक या संचालक को जुर्माना देना पड़े या बड़े घर की हवा खानी पड़े। इसी डर से स्पष्टवक्ता बनकर हिंदी के संपादक सरकार के कामों की आलोचना करने से हिचकते थे। साथ ही, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति, शासकों का प्रजा के प्रति व्यवहार, अधिकारियों के अत्याचार, आदि से साधारण जनता बहुत दुखी होगई थी और यह अनिवार्य होगया था कि किसी प्रकार इन सबका भंडाफोड़ किया जाय। दूसरे शब्दों में, प्रजा अधिकारियों की रीति-नीति और अत्याचारों से असंतुष्ट तो हो गई थी और चाहती भी थी कि किसी प्रकार उनके कार्यों की आलोचना की जाय; परंतु दंड के डर से उसमें इतना साहस न था कि निर्भय होकर स्पष्टतापूर्वक उन पर अपेक्षा करे। यही कारण है कि गुप्तजी ने अपने लेख 'भगेड़ी शिव शंभु शर्मा' के ही नाम से अधिक लिखे। यह नाम कल्पित था और केवल इसीलिए रक्खा गया था कि पाठकों का मनोरंजन हो, वह राजनीतिक परिस्थित—लेख के विषय-से परिचित भी हो जाय और साथ ही, सरकार को संपादक पर दोषारोपण करने का अवसर भी

उपनाम और विशिष्ट शैली का कारण

न मिले। 'भंगेड़ी' विशेषण का प्रयोग इस उद्देश्य से किया गया था जिसमें जान पड़े कि लेखक नशे में बक रहा है, अधिकारियों को उसकी बातों पर गंभीर होकर ध्यान नहीं देना चाहिए। इसी प्रकार कभी-कभी उस व्यक्ति का भी वे कल्पित नाम रख लेते थे जिस पर उन्हें आक्षेप करना होता था। ऐसा करने से संबंधित व्यक्ति तो इनका आशय समझ ही जाता था और जन साधारण का उससे मनोरंजन भी खूब होता था। यही इनकी शैली की चौथी विशेषता है जिसमें इनका व्यंग्य लक्षित व्यक्ति को सजग और सावधान तो अवश्य कर देता था, परंतु क्रुद्ध या आहत नहीं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए—

नारंगी के रस में जाफरानी वसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकंदे भर रहा था। हाथ पाँव को भी स्वाधीनता दे दी गई थी। वे खटिया के तूलअरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गए थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगा कर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बारबार अमृत ढालने लगा—

चलो, चलो, आज खेलैं होली, कन्हैया घर।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा—बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसंत में सावन देख कर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गाने वाले को मलार गाना चाहिए था न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, वसंत के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गाने वाले की नहीं, विधि की भूल है जिसने वसंत को सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की
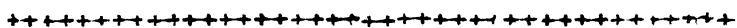
कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की-सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतु विपर्यय है।

इस विचार को छोड़ कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली खिलैया कहते हैं कि—'चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे।' कौन? ब्रज के राजकुमार। और खेलने वाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वालबाल। इस विचार ने शिवशंभु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिल कर आनंद मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनंद को किसी समय अपना आनन्द समझते थे? यदि आज शिवशंभु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे, रंग की पिचकारियाँ लिए अपने राजा के घर होली खेलने जायँ तो कहाँ जायँ? राजा सात समुद्र पार है। न राजा ने शिवशंभु को देखा, न शिवशंभु ने राजा को। खैर राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारका में ही हैं पर उद्धव को प्रतिनिधि बना कर ब्रजवासियों को संतोष देने के लिए ब्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता? ओफ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी।

—एक दुराशा

इस अवतरण पर यदि हम उक्त विवेचन को ध्यान में रख कर विचार करेंगे तो जान पड़ेगा कि गुप्तजी ने किसी राजनीतिक समस्या पर गंभीर होकर विचार नहीं किया है। केवल एक चुटकी ऐसी ली है जिसकी सत्यता देख कर हमारे हृदय में एक कसक उठती है; साथ ही यह मार्मिक व्यंग्य किसी को आहत भी नहीं करता। छोटे-छोटे वाक्यों का सरल प्रवाह बड़ा सुन्दर है। भाषा भी सरल है; अरबी-फारसी के दो-एक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है; परन्तु उनसे भाषा में सजीवता ही आई है। संस्कृत के तत्सम शब्द भी इसी प्रकार उनकी भाषा में मिल

आलोचना

जाते हैं; और उर्दू के साथ मिल कर भाषा को रुचिरता प्रदान करने में ही सहायक होते हैं। यही उनकी व्यावहारिक परिचयात्मक शैली है जिसमें उन्होंने अपने हास्य और व्यंग्यमय राजनीतिक लेख लिखे हैं।

इसी शैली में से यदि हम चुलबुलाहट और व्यंग्य की मात्रा कम कर दें तो हमें उनकी आलोचनात्मक शैली का ज्ञान हो जायगा। गुप्त जी ने आलोचना संबंधी लेख अधिक नहीं लिखे, फिर भी दो-चार लेख ऐसे मिलते हैं, वे इसी शैली के संयत और संस्कृत रूप में हैं। इस 'संस्कृत और संयत' से आशय केवल इतना ही है कि लेखक उन लेखों को लिखते समय अपेक्षाकृत गंभीर हो जाता था; भंग-बूटी छोड़ कर ऐसा पत्र-संपादक बन जाता था जो अपना उत्तर-दायित्व समझता है, जिसका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है और जो संपादक की कुर्सी से किसी गंभीर विषय की व्याख्या करके पाठकों के सामने रखता है। भाषा इस समय भी प्रायः वैसी ही है, मुहावरों का प्रयोग भी औ अवसर मिलते ही किया गया है। उसकी इस शैली का उदाहरण देखने से उक्त कथन स्पष्ट हो जायगा—

आलोचनात्मक शैली

यह ठीक है कि श्री लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' की भाषा उनके लिए आदर्श हो सकती थी। पर लल्लू जी के परिश्रम की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उनकी पोथी ही में रह गई, आगे और पोथियाँ लिख कर किसी ने उनकी चलाई हुई भाषा की उन्नति नहीं की। लल्लू जी ने उर्दू वालों के साथ-साथ ही 'प्रेमसागर' लिख कर हिंदी में गद्य लिखने की रीति चलाई। दुःख की बात है कि उर्दू की उन्नति तो होती रही पर हिंदी की कुछ न हुई। लल्लू जी के 'प्रेमसागर' की भाँति दस-पाँच और पोथियाँ हिंदी में लिखी जातीं तो 'बनारस अखबार'* को

---

* यह हिंदी का सबसे पहला समाचार पत्र माना जाता है जो सन् १८४५ में राजा शिवप्रसादजी की सहायता से प्रकाशित हुआ

हिंदी लिखने का एक अच्छा कार्य मिलता, पर लल्लू जी के बाद कोई साठ साल तक उस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। अंत को स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र जी ने मरी हुई हिंदी को फिर से जिलाया।

यह अवतरण देखने से पता लग सकता है कि गुप्तजी की व्यावहारिक आलोचनात्मक शैली की भाषा भी पूर्व रूप के अनुकूल है और वैसे ही वाक्य भी छोटे-छोटे हैं; अंतर केवल इतना ही है कि इस शैली में वैसी चुलबुलाहट नहीं; हास्य और व्यंग्य की मात्रा भी इसमें बहुत कम है। ऊपर के अवतरण में तो इसके लिए विशेष स्थान ही नहीं था; परन्तु कहीं-कहीं वे इससे अधिक तेज हो जाते हैं। ऐसे लेख कम हैं।

था। इसके संपादक गोविंद रघुनाथ थत्ते नामक एक मराठी सज्जन थे। पत्र का मोटो था—

सुबनारस अखबार यह, शिवप्रसाद आधार,
बुधि विवेक जन निपुन को, चितहित बारंबार।
गिरिजापति नगरी जहाँ, गंग अमल जलधार,
नेत शुभाशुभ मुकुर को, लखौ विचार-विचार॥

इसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मातमाओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है, अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तैयार हरचेटर तरफ से हो गया बल्कि इसके नकशे का बयान पहले मुन्दर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देख कर लोग उस पाठशाला के किते के मकानों की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उसके बनने के खर्च का तजबीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो सब दानाई साहब ममदूह की है, खर्च से दूना लगावट से वह मालूम होता है।

भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक उनका लेख ऐसी ही शैली में लिखा गया है।

गुप्त जी आरंभ में उर्दू में लिखते थे और बाद में हिंदी में लिखने लगे थे। उर्दू में लिखने के कारण हिंदी में आने पर भी उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का रहना स्वाभाविक था। तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि हिंदी के लिए यह अच्छा ही हुआ। अँगरेजी के भी तत्सम और तद्भव शब्दों को—मोटो, गवर्नमेंट, डायरेक्टर, लाट साहब—उन्होंने अपनाया तब अरबी-फारसी और संस्कृत की तो बात ही क्या थी? परंतु उर्दू और हिन्दी से संबन्ध में उनका यह विचार—

गुप्तजी की भाषा

वास्तव में हिंदी-उर्दू का बड़ा मेला है। यहाँ तक कि दोनों एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं, केवल फारसी जामा पहिनने से एक उर्दू कहलाती है और देवगारी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिंदी—

अवश्य विचारणीय है। यदि उनके इस कथन को हम ध्यान में रक्खें तो उनकी सुसंगठित, मुहावरेदार, चलती और चटपटी व्यंग्य—और विनोद की निराली छटा के कारण—भाषा का मर्म समझ में आ सकता है।

———

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी

(सन् १८६४—१९३८)

परिचय

द्विवेदीजी का जन्म सन् १८६४ में हुआ था। उनके पिता फौज में नौकर थे। निर्धनता के कारण उनकी शिक्षा की ठीक व्यवस्था न हो सकी शुरू में उन्होंने घर पर थोड़ी संस्कृत सीखी; तब वे गाँव के स्कूल में भरती करा दिए गए। इसके पश्चात् अँगरेजी पढ़ने के लिए पहले रायबरेली भेजे गए, फिर फतहपुर और उन्नाव। यों, उन्हें अँगरेजी का थोड़ा-बहुत ज्ञान तो अवश्य होगया, पर जगह-जगह मारे-मारे फिरने के कारण व्यवस्थित रूप से कहीं न पढ़ सके। इसी समय उन्हें १५) मासिक की एक नौकरी मिल गई। कुछ दिन बाद वे नौकरी छोड़कर बम्बई चले गए और तार का काम सीखते रहे। भाग्य से उन्हें जी० आई० पी० रेलवे में २२) मासिक पर तार-बाबू की जगह मिल गई। इस समय उनकी अवस्था लगभग २२ वर्ष की थी। कई वर्ष तक वे इसी जगह पर नौकरी करते और ऊँचा ओहदा पाते रहे।

इस बीच में उनकी रुचि विद्या की ओर बढ़ती गई और वे बराबर अध्ययन भी करते रहे अपनी कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभा के कारण उन्होंने मराठी, गुजराती और बँगला का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए एक पंडितजी बराबर आया करते थे। धीरे-धीरे वे हिन्दी और संस्कृत में कविता करने लगे। इस समय वे रेलवे में चीफ क्लर्क थे और १५०) वेतन पाते थे। एक दिन साहब से कुछ कहा-सुनी हो जाने के कारण आपने नौकरी छोड़ दी और 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

यद्यपि द्विवेदीजी ने किसी ऐसी संस्था की स्थापना नहीं की जो हिंदी भाषा या उसके साहित्य के प्रचार के लिए किसी प्रकार का कार्य

हिन्दी-सेवा

करती, तथापि 'सरस्वती' की सहायता से भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक तथा साहित्य के शिक्षक, तीन-तीन संस्थाओं के संचालन का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य उन्होंने स्वेच्छा से उठाया तथा सम्मान और सफलता के साथ निभाया। इससे स्पष्ट है कि उनकी हिन्दी सेवा कई मार्गों में झुकी हुई थी—

भाषा-सुधार-कार्य

द्विवेदीजी के प्रादुर्भाव के समय तक हिन्दी के जो लेखक हुए थे उनमें से अधिकांश अपनी भाषा में व्याकरण के नियमों का विशेष ध्यान न रख कर मनमाने ढंग से लिखा करते थे। द्विवेदी जी ने इस दोष को दूर किया और लेखकों को व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने पर विवश किया।

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी

भाषा को विविध विषयों के योग्य बनाना
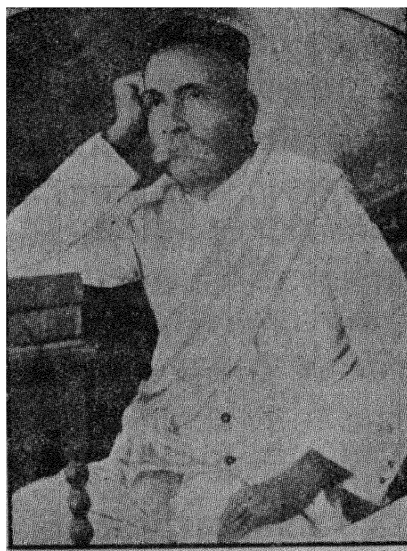
उस समय तक उपन्यास, कहानियाँ और सरल सामाजिक लेख (Light literature) ही हिन्दी में अधिक लिखे गए थे; पर गम्भीर विषयों की ओर किसी का ध्यान नहीं था। कुछ लोग तो यहाँ तक कहा करते थे कि इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्ति शास्त्र, हिंदी भाषा, शासन पद्धति, शिक्षा, अनुसंधान, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, समाज-तत्व, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति जैसे गम्भीर विषय न हिन्दी में लिखे जा सकते हैं और न कोई उन्हें पढ़ेहीगा। द्विवेदीजी

ने ऐसे संकीर्ण विचारों का विरोध किया। इनमें से अधिकांश विषयों पर स्वयं लेख लिखकर और कुछ पर दूसरों से लिखवा कर उन्होंने इस भ्रम को दूर किया और योग्य लेखकों का ध्यान इस कमी की ओर दिलाया।

उनके समय तक हिन्दी की शैली का रूप स्थिर नहीं हुआ था।

शैली की स्थिरता

द्विवेदीजी ने सरल और प्रचलित भाषा का प्रयोग कर नवीन साहित्यिक शैली को जन्म दिया।

विविध विषयों पर दूसरों से लेख लिखा कर तथा अँगरेजी की ओर झुके हुए भारतवासियों को अपनी मातृभाषा में लेख लिखने के

नए लेखक

लिए प्रोत्साहित करके उन्होंने अनेक लेखकों को जन्म दिया। आज-कल के कई प्रसिद्ध लेखक अपने को द्विवेदीजी का शिष्य मानते हैं और यह बात बड़े गर्व के साथ स्वीकार भी करते हैं।

द्विवेदीजी के पहले हिन्दी में केवल अनुवाद-ग्रन्थ ही दिखाई पड़ते थे, कुछ अँगरेजी से अनुवादित थे कुछ बँगला से और कुछ संस्कृत से।

मौलिकता

द्विवेदीजी ने नए लेखकों से विविध विषयों पर लेख लिखवा कर मौलिक साहित्य की सृष्टि का सूत्रपात किया।

द्विवेदीजी की साहित्य-सेवा का सब से पुनीत आदर्श हिन्दी-भाषा का प्रचार कराना था। इसमें उन्हें बड़ी सफलता मिली हम कह सकते

हिन्दी-प्रचार

हैं कि एक ओर तो वे लेखक पैदा करते जाते थे और दूसरी ओर पढ़ने वाले भी। आज हिन्दी का जो प्रचार है, उसका अधिक श्रेय द्विवेदीजी को ही दिया जाता है।

संक्षेप में, हिंदी की अनस्थिरता को स्थिरता-प्रदान करने, भाषा-संस्कार और परिमार्जन, भाषा की काट-छाँट, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा, वाक्य-विन्यास की व्यवस्था आदि के साथ-साथ हिंदी को

साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाकर उसमें विचारों के प्राण फूँकने का भगीरथ प्रयत्न उन्होंने किया। प्रेरणा और प्रोत्साहन के द्वारा अनेकानेक नवीन लेखकों का उन्होंने उत्साह बढ़ाया तथा अँगरेजी की ओर झुके हुए हिंदी भाषा-भाषियों को हिंदी की ओर खींचा। अन्य भाषाओं से ढूँढ़-ढूँढ़ कर उन्होंने रत्न निकाले, और उनसे हिंदी का सिंहासन सुसज्जित किया। हिंदी को उन्होंने उस समय चमकाया जब उसमें कोई चमक नहीं थी। यही द्विवेदीजी की हिंदी सेवा का सारांश है।

द्विवेदीजी आरंभ में कविता करते थे; बाद में ज्यों-ज्यों 'सरस्वती' का काम बढ़ता गया, कविता छूटती गई। दूसरे, उनकी कविता का समय ने विशेष आदर भी नहीं किया। हाँ, गद्य में उनका लोहा बड़े-बड़े मानते थे। कहा जाता है कि द्विवेदीजी ने २५ वर्ष के अन्दर लगभग २५ हजार पृष्ठ—एक वर्ष में एक हजार पृष्ठ—लिखे हैं। इनमें अधिकांश लेख हैं जो कई पुस्तकों में संकलित हो चुके हैं। उनकी मुख्य पुस्तकें ये हैं—

द्विवेदीजी के ग्रंथ

पद्य—कुमार-संभव-सार (कालिदास के 'कुमार संभव' के ५ सर्गों का पद्यात्मक अनुवाद—१९०२), काव्य-मंजूषा (कविताओं का संग्रह—१९०३), कविता-कलाप (संपादित काव्य संग्रह—१९०९), सुमन (काव्य-मंजूषा का संशोधित संस्करण)

गद्य—बेकन-विचार-रत्नावली (अनुवाद—१८९९) नैषधचरित-चर्चा (१९००), हिंदी-कालिदास की समालोचना (१९०१), शिक्षा (अनुवाद—१९०६), स्वाधीनता (अनुवाद—१९०७) हिंदी-भाषा की उत्पत्ति (१९०७) हिंदी महाभारत—१९०७, संपत्तिशास्त्र (अपने विषय की पहली पुस्तक—१९०७) आलोचनांजलि (लेखों का संग्रह—१९२७), विदेशी-विद्वान (लेखों का संग्रह—१९२७) रसज्ञ-रंजन (लेखों का संग्रह—१९३०) चरित-चित्रण (लेख—१९२९) समालोचना-समुच्चय (लेख—१९२८) सुकवि-संकीर्तन (लेख) साहित्य-

संदर्भ (लेख—१६२६) साहित्य-सीकर (लेख—१६२६) पुरातत्व-प्रसंग (लेख—२६) ।

ग्रंथों के विषय

द्विवेदीजी ने हिंदी में प्रधानतः तीन तरह के लेख लिखे हैं। पहले तो उन विषयों के जिनका प्रचार हिंदी में बिल्कुल नहीं था, यथा संपत्ति-शास्त्र, शिक्षा, पुरातत्व आदि। दूसरे प्रकार के लेख आलोचनात्मक हैं और तीसरे, खोज और गवेषणा सम्बन्धी, जैसे नाट्यशास्त्र, हिंदी भाषा की उत्पत्ति आदि। इनके अतिरिक्त, चौथे प्रकार के भी दो-एक लेख उन्होंने लिखे जो विशेष गभीर साहित्यिक हैं; परंतु ऐसे लेखों की संख्या बहुत कम है।

विषय के अनुसार द्विवेदीजी की भाव-प्रकाशन शैली मुख्यतः तीन प्रकार की है—

द्विवेदीजी की शैली—परिचयात्मक शैली

परिचयात्मक—द्विवेदीजी के प्रादुर्भाव के समय कई विषय ऐसे थे जिन पर न तो लेख ही थे और न जिनकी ओर पाठक का ध्यान ही जाता था। ऐसे विषयों पर पहले-पहल द्विवेदीजी ने ही लेख लिखना आरंभ किया था। इन विषयों को अपनाने का उद्देश्य यह था कि पाठकों की इनमें रुचि हो जाय। इसके लिये उन्हें एक ओर तो सरल से सरल भाषा अपनानी पड़ती थी और दूसरी ओर विषय का प्रतिपादन अत्यन्त सरल ढंग से करना पड़ता था; एक-एक बात, एक साधारण शिक्षक की तरह अपने विद्यार्थियों को समझाने के लिये, कई बार दोहरानी पड़ती थी। कभी-कभी तो केवल दो-एक शब्द बदल कर ही कई वाक्यों में उन्होंने एक ही बात समझाई है। पढ़े-लिखे व्यक्तियों के लिये वे ऐसे लेख प्रायः नहीं लिखते थे। अतः संभव है, एक ही बात को बराबर दोहराने से विद्वानों को उनके लेखों से कुछ विरक्ति-सी हो जाय; पर साधारण पाठक तो उनकी सरलता और बोधगम्यता पर मुग्ध होता है। इस शैली के उदाहरण उनके प्रायः प्रत्येक लेख में मिल जाते हैं।
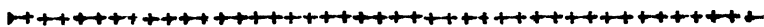
(२) हिंदी-सेवा-सम्बन्धी द्विवेदीजी का दूसरा उद्देश्य भाषा और साहित्य में प्रचलित कुरीतियों को दूर करना, अन्य भाषाओं पर लट्टू होकर अपनी भाषा की ओर से उदासीन रहने वालों को उनका कर्तव्य सुझाना और विरोधियों को मुँह तोड़ जवाब देना था।

आलोचनात्मक शैली

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये लिखे गये उनके अधिकांश लेख आलोचनात्मक हैं। सुविधा के लिये उनकी आलोचनात्मक शैली के हम तीन मुख्य भेद कर सकते हैं—

(क) जो लोग भाषा और साहित्य के विषय में मनमानी कर रहे थे, उन्हें उनका कर्तव्य सुझाने के लिये इस शैली में आदेश दिया गया है। उदाहरण के लिये एक छोटा-सा अवतरण देखिये—

आदेशपूर्ण आलोचनात्मक शैली

लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिये। उन्हें वागाडंबर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिये कि वे कोई बड़ी ही गंभीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें योरप तथा अमेरिका के देशों के अनेक पंडितों और लेखकों के नाम हों, जिसमें अँगरेजी नाम, शब्द और वाक्य अँगरेजी ही के अक्षरों में लिखे हों उस रचना को बहुधा पांडित्यपूर्ण समझते हैं। परन्तु यह गुण नहीं, दोष है। हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिये जिसे केवल हिंदी जानने वाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेजी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनंददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि एकमात्र पांडित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिये जिसे

अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना का उद्देश्य सफल होगा, तभी उसके पढ़ने वालों के ज्ञान और आनंद की वृद्धि होगी।

—सरस्वती

इसी प्रकार भूले हुए साहित्यिकों को उन्होंने बार-बार उनका कर्तव्य सुझाया है; एक आदर्श सेनापति और पथ-प्रदर्शक की भाँति उनको उचित मार्ग दिखलाया है। इस शैली पर परिचयात्मक शैली की भी थोड़ी सी छाप है, और उनके आदर्श तथा उद्देश्य की स्पष्ट झलक भी। ऐसी ही आदेशपूर्ण, परिचयात्मक आलोचना-शैली को हम उनकी प्रधान शैली मान सकते हैं।

(ख) आलोचना-शैली का दूसरा रूप प्रेरणात्मक ओजपूर्ण शैली है। जब पूर्वास्त्र व्यर्थ सिद्ध होता था तब इसका प्रयोग किया जाता था। इस शैली में कहीं-कहीं अँगरेजी के डाक्टर जानसन और रस्किन की शैली के दर्शन होते हैं।

ओजपूर्ण आलोचनात्मक शैली

इसका उदाहरण हिंदी-भाषा की शुद्धता और परिष्कार की चेष्टा करने, हिंदी-साहित्य की उन्नति की ओर ध्यान आकृष्ट करने, हिंदी-भाषा-प्रचार के लिये आंदोलन करने तथा भारतीयता, राष्ट्रीयता, स्वधर्म और आत्मगौरव के भावों को जाग्रत करने के उद्देश्य से लिखे हुए लेखों में ही प्रायः मिलता है। उदाहरण के लिये देखिये—

साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला-पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनुरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने, जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिंदा करने वाली संजीवनी

औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठाने वाला, उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है, उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रह कर किसी दिन अपना अस्तित्व खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नही रखता, वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही है और आत्म-हंता भी है।

—साहित्य की महत्ता

ओजपूर्ण शैली का यह सुंदर नमूना है, साथ ही ऊपर के आदेश-पूर्ण शैली के अवतरण से उसका सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। अपना कर्तव्य भूले हुए विद्यार्थियों को जिस प्रकार हमारे गुरुवर शिक्षा देते हैं उसी प्रकार इस अवतरण में भी हिंदी-जनक अपने विद्यार्थियों सरीखे मातृभाषा हिंदी की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों को अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दे रहे हैं। इसी शैली से उनकी तीसरी शैली का जन्म होता है।

(ग) यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो द्विवेदीजी की व्यंग्यात्मक शैली उक्त ओजपूर्ण शैली से पृथक नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिये उन्हें ओजपूर्ण आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, प्रायः उसी के लिये उन्होंने व्यंग्य और कटाक्ष का प्रयोग भी किया है। इस शैली में ओज तो वर्तमान है ही, साथ ही व्यंग्य या कटाक्ष का जो पुट है वह भी बहुत ही चुटीला है। उदाहरण देखिये—

व्यंग्य या कटाक्षपूर्ण आलोचनात्मक शैली

'कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फारसी और अँगरेजी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत

नाम किस चिड़िया का है। संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिंदी लिखते शरम आती है। इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर इँगलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितने परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषाएँ सीखते हैं; फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान-वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञ भी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते; सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं, अँगरेजी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते; विदेश में, जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने चलते हैं।

—सरस्वती

इस अवतरण में हमें उनकी ओजपूर्ण आलोचना शैली के साथ मार्मिक व्यंग्य भी मिलता है। उनकी इस शैली के दो प्रधान रूप हैं; एक में ओज की प्रधानता है और परोक्ष व्यंग्य की केवल पुट है तथा दूसरे में व्यंग्य और कटाक्ष प्रधान हैं, ओज की पुट मात्र है। हाँ, परिचयात्मक आदेशपूर्ण शैली दोनों में है।

शैली में व्यंग्य, कटाक्ष और विनोद

इस प्रकार की व्यंग्यमय और कटाक्षपूर्ण शैली का प्रयोग उन्होंने मनोविनोद की दृष्टि से नहीं किया है; विषय और साहित्यिक परिस्थिति उनका सा उद्देश्य रखने वाले व्यक्ति के लिये किसी सीमा तक, मनोविनोद के अनुकूल थी ही नहीं। हाँ, साहित्यिक क्षेत्र से बाहर उन्होंने जिस व्यंग्यशैली को ग्रहण किया है उसमें सरल विनोद और हास्य की स्पष्ट झलक है। इस प्रकार की शैली से विनोद और मनोरंजन होता है और किसी को दुःख भी नहीं पहुँचता। यही सरल हास्य की शिष्टता और विशेषता है। इस शैली में मसखरेपन का पुट रहता है, जिससे हमें उनके सरल स्वभाव और उनकी विनोदप्रियता का पता लगता है।

सरस और मनोरंजक व्यंग्य की इस शैली का एक उदाहरण पाठकों के विनोद के लिये यहाँ दिया जाता है—

इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं। बाप-दादों की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिये हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जाएँ और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्यूनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख्शीशराम। आपके साले साहब ने फी रुपया तीन-चार पंसेरी का भूसा म्यूनिसपैलिटी को देने का ठेका ले लिया है। आपका पिछला बिल दस हजार रुपये का था। कूड़ा गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के माँस नजर नहीं आता। सफाई के इन्सपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इन्सपेक्टरी के जमाने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके हैं। फजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके तीन हजार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्यूनिसिपैलिटी के मेंबर पंडित सत्यसर्वस्व के साले के हाथ वही जमीन हजार पर बेच दी गई।

एक बार उन्होंने सरस्वती में हास्य और व्यंग्य के संबंध में एक नोट लिखा था। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

प्रहसनों और हँसी-मजाक के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता है, इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों का शासन भी कर सकता है। हिंदी में साहित्य के इस अंश की बहुत कमी है।

—सरस्वती १६–१ पृ० ६१

द्विवेदीजी के छोटे-छोटे लेख इस कमी को पूरा करने के लिए तो नहीं, पर समाज को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से अवश्य लिख गये थे।
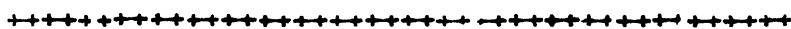
(३) गवेषणात्मक—द्विवेदीजी ने जहाँ गंभीर साहित्यिक विषयों का विवेचन किया है, वहाँ हमें आलोचनात्मक या व्यंग्यात्मक शैली की चुलबुलाहट, मार्मिकता या चुटीलापन नहीं मिलता। शैली साहित्यिक भाषा में शिष्ट और संयत ढंग से गंभीर और एकाग्रचित्त होकर लेखक ने ऐसे जो लेख लिखे हैं उनमें हमें उनकी गवेषणात्मक शैली के दर्शन होते हैं। इसके भी दो प्रधान रूप हैं। एक वह है जिसकी भाषा अत्यन्त सरल और साधारण है। इसमें गंभीरता का पुट है और मार्मिकता तथा मसखरेपन का अभाव है। शैली का प्रयोग जन-साधारण को क्लिष्ट या विवादात्मक विषय समझाने के लिये उन्होंने किया है। फलतः भाषा सरल है, वाक्य छोटे हैं और प्रतिपादन प्रणाली सुलझी हुई है। इसका दूसरा रूप वह है जिसमें भाषा विशुद्ध हिंदी है। नीचे इसका एक नमूना 'प्रतिभा' शीर्षक निबंध से दिया जाता है—

अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार का रोग है। उनका संबंध केवल मस्तिष्क और मन से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इसमें विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता को अलग करना और प्रत्येक का परिमाण समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसलिए प्रतिभावान पुरुषों में कभी-कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है। अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण प्रकार की होती है वैसे प्रतिभावालों की भी समझ असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चल कर नए-नए मार्ग निकाला करते हैं; पुरानी लकीर पीटना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

इस अवतरण की भाषा विशेष सरल नहीं है। यहाँ उर्दू के तत्सम ही क्या तद्भव शब्दों का भी प्रयोग बहुत ही कम किया गया

है। साथ ही, गंभीर भाव-व्यंजना में कुछ दुरूहता भी है जिसे द्विवेदीजी ने कुशलता से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है। शायद यह गूढ़ता और गंभीरता स्वाभाविक ही है। ऊपर की आलोचनात्मक शैली की सरलता देखते हुए इस शैली में कुछ कृत्रिमता भी दिखाई पड़ती है।

द्विवेदीजी सरल से सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे। न तो वे प्रचलित संस्कृत शब्दों का विरोध या बहिष्कार करते थे और न अरबी-फारसी का ही। उनका मत था कि प्रचलित शब्दों को अपना लेना ही हिंदी-भाषा भाषियों के लिए उपयुक्त होगा, चाहे ये शब्द संस्कृत के हों चाहे अरबी-फारसी या अंगरेजी के। यही कारण है कि द्विवेदीजी की भाषा में न तो संस्कृत के तत्कालीन पक्षपातियों का-सा सामासिक शब्द जाल है और न उर्दू-लेखकों की भाषा की कलाबाजियाँ या चुलबुलाहट। इनकी भाषा में सजीवता है और स्वाभाविकता भी जिसे पढ़ कर और समझ कर पाठक मुदित हो जाता है। वे प्रायः कहा करते थे—संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जाएँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है जो 'गृह' लिखा जाय? 'कलम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखी जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाय? वास्तव में संस्कृत से हिंदी का साधारण आर्थिक संबंध ही उन्हें इष्ट था। संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिंदी 'मृदुता' के पक्षपाती थे, परन्तु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छंदता माँगी जाती तो वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ' 'श्रेष्ठतर', 'श्रेष्ठतम' और सवश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। "नोकदार नाक" के बदले "नोकवती नासा" उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, वे भी अपना लिया करते थे, परन्तु इसके आगे वे नहीं बढ़े।* इसी प्रकार उनकी सम्मति में उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें वे हिंदी ही का समझते

* द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ—प्रस्तावना

थे। उनकी भाषा और भाषा-संबंधी विचारों को समझने के लिए उनके इस कथन से भी सहायता मिल सकती है—

हिंदी जिन विदेशी शब्दों को आसानी से ग्रहण कर सके उन्हें तुरंत ही अपने में मिला लेना चाहिए। मैं जब स्वयं 'सरस्वती' में ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगा तब लोगों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया। कितने ही ने यहाँ तक इलजाम लगाया कि मैं भाषा को नष्ट कर रहा हूँ। परन्तु, सत्य, सत्य ही है। अब लोग आप से आप समझ गए।

—सरस्वती

भाषा-संबंधी द्विवेदीजी के उद्देश्य

द्विवेदीजी एक ओर तो हिंदी-भाषा को ऐसा सरलतम रूप देना चाहते थे जिसे समझने वाले भारत के प्रायः सभी प्रांतों में रहते हैं और दूसरी ओर उनका यह विचार था कि यदि एक भाषा का सर्वत्र प्रचार हो जायगा तो देश में राष्ट्रीयता या जातीयता की भावना की उत्पत्ति सरलता से हो जायगी। उनका तीसरा उद्देश्य यह था कि ऐसा करने से हिंदी भाषा में गंभीर और गूढ़ से गूढ़ विषयों को सरल भाषा में व्यक्त करने की क्षमता आ जायगी। वे हिंदी-संसार को यह सुना देना चाहते थे कि हिंदी-भाषा की अभिव्यंजन-शक्ति किसी स्वतंत्र भाषा से कम नहीं है और उसमें जो कमी है भी, वह प्रचलित शब्द ग्रहण करने से शीघ्र ही दूर की जा सकती है। कालांतर में, द्विवेदीजी की प्रायः सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हुईं; और उनकी सेवा का लोग महत्व भी समझ गए। 'द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ' भेंट करके हमने उनका ऋण स्वीकार करने का प्रयत्न भी किया है। आज सभी द्विवेदी जी को हिंदी भाषा के विशाल और विस्तृत प्रसाद की नींव डालने वाला समझते हैं†।

---

† जो विद्यार्थी द्विवेदीजी के विषय में विशेष रूप से जानना चाहें लेखक की 'द्विवेदी मीमांसा' नाम की पुस्तक देखें।

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास

(सन् १८७५—१९४५)

मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास।
सौम्य, शील-निधान, बाबू श्यामसुन्दर दास॥

—द्विवेदीजी।

बाबूजी का जन्म सन् १८७५ में बनारस में बाबू देवीदास खन्ना के घर हुआ था। हिन्दी के प्रति प्रेम आपको अपने विद्यार्थी जीवन से ही था और इन्टरमीडिएट पास करने के बाद ही अपने

परिचय

कुछ मित्रों की सहायता से आपने काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी। बी० ए० पास करने के बाद कुछ समय तक सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज बनारस में आप अँगरेजी के अध्यापक रहे। इसके पश्चात् कुछ वर्ष तक इरिगेशन डिपार्टमेंट, शिमला और महाराजा काश्मीर के प्राइवेट दफ्तर में काम किया। तत्पश्चात् कालीचरण हाई स्कूल, लखनऊ में हेडमास्टर होकर आए और कई वर्ष तक काम करते रहे। यहाँ से काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में चले गए, और कई वर्ष तक हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। सन् १९३६ में आपने यहाँ

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास

से भी छुट्टी ले ली। लगभग पाँच वर्ष विश्राम करने के पश्चात् अगस्त १९४५ में उनका स्वर्गवास हो गया।

हिन्दी-सेवा काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना

हिन्दी पर बाबूजी का बड़ा ऋण है। आपका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना करना है। हिन्दी की उन्नति के लिए जितना प्रयत्न इस सभा ने किया है उतना शायद किसी भी दूसरी संस्था ने नहीं किया और 'इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति बाबूजी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है।'

प्राचीन ग्रंथों की खोज उनका प्रकाशन

बाबूजी का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य, नागरी-प्रचारिणी-सभा के सदस्यों के योग से, प्राचीन हिंदी-कवियों के ग्रन्थों की खोज और उनका प्रकाशन है। इससे हिंदी-साहित्य का महत्त्व तो बढ़ा ही; साथ ही हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने वालों के लिए सामग्री भी प्रस्तुत हुई जिससे साहित्य का इतिहास तैयार हो सका है।

कोषों का संपादन प्रकाशन

तीसरा महत्वपूर्ण कार्य, वर्षों के प्रयत्न के बाद 'हिंदी-शब्द-सागर' और 'हिंदी वैज्ञानिक कोष' (१९०६) का निर्माण कराना है। इस कार्य में इन्हें अन्य विद्वानों से भी बड़ी सहायता मिली।

उच्चकोटि के ग्रंथों का निर्माण

चौथा कार्य 'भाषा-विज्ञान और साहित्यालोचन' आदि विषयों पर पुस्तकें लिखना है। कई महानुभावों के—जिनमें बाबूजी भी थे, सहयोग से विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रवेश हो चुका था; पर बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए भाषा-विज्ञान और आलोचना-संबंधी पुस्तकें थी ही नहीं—अँगरेजी भाषा में लिखे ग्रंथों की सहायता से इन विद्यार्थियों को अपना काम चलाना पड़ता था। अतः

सबसे पहले बाबूजी ने ही इन विषयों पर पुस्तकें लिखीं जो आज भी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। ये विषय अत्यंत गूढ़ और गंभीर थे। पर, हिंदी उस समय या तो अनुवाद करने की भाषा रह गई थी या केवल कथा कहानी लिखने योग्य। बाबूजी ने हिंदी-भाषा को इस योग्य बनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया कि गंभीर विषयों का भली भाँति प्रतिपादन इसमें हो सके।

यों, जीवनभर बाबूजी हिंदी की सेवा करते रहे हैं। वास्तव में हिंदी को साहित्यक रूप देने और हिंदी-साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा पुनरुत्थान-कार्य करने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को है।

सम्मान

आपकी सेवाओं का सम्मान और आपका ऋण स्वीकार करने के लिए, 'हिंदी शब्द-सागर' के निर्माण के उपलक्ष में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको 'कोशोत्सवस्मारक-संग्रह' समर्पित किया था। दो वर्ष हुए हिंदी विश्व-विद्यालय काशी ने डी० लिट्० की उपाधि इन्हें प्रदान करके अपने कर्तव्य का पालन किया है।

उनके ग्रंथ

मौलिक—'हिंदी-भाषा और साहित्य', 'रूपक-रहस्य', 'साहित्यालोचन', 'भाषा-विज्ञान', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र।'

संपादित—'हिंदी-शब्द-सागर', 'वैज्ञानिक कोष', 'हिंदी-कोविद-रत्नमाला' (दो भाग), 'मनोरंजन पुस्तकमाला' (अनेक भाग)।

इनके अतिरिक्त अनेक प्राचीन कवियों के काव्यों का संकलन और संपादन भी बाबूजी ने किया है। इन संपादित पुस्तकों के महत्व की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। मौलिक पुस्तक में, 'हिंदी भाषा और साहित्य' तथा 'भाषा विज्ञान' का विषय तो स्पष्ट है। 'रूपक-रहस्य' में नाटकों की उत्पत्ति, लक्षण, भेद आदि पर प्रकाश डाला गया है। अन्तिम दोनों पुस्तकें आलोचनात्मक हैं; तुलसीदास पर तो कई आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गई हैं, पर भारतेंदुजी पर इस ढंग की आलोचनात्मक पुस्तकें अधिक नहीं लिखी गई हैं। 'साहित्यालोचन'

नामक पुस्तक विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी है। इसमें आलोचना-संबंधी प्राच्य तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का विवेचनात्मक समन्वय है।

मौलिक ग्रंथों के शीर्षक देखने से ही हमें आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति का पता लग जाता है कि आपने 'भाषा-विज्ञान' और 'साहित्यालोचन' जैसे गूढ़, गंभीर और मननशील विषयों पर ही अधिकतर लिखा है। अपने लिये ये विषय—या क्षेत्र—बाबूजी ने बहुत पहले ही चुन लिये थे और नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में आरंभ में ही, इन पर कई लेख लिखे थे। दूसरी बात इस संबंध में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि साहित्य के साधारण विद्यार्थियों को यह विषय समझाना ही बाबूजी का उद्देश्य रहा है।

ग्रंथों के विषय

'भाषा विज्ञान' जैसे गूढ़ और दुरुह विषयों के संबंध में बाबूजी ने लिखा है—जो विषय जटिल और दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है। तथा सरल और सुबोध विषयों के लिये वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे विशेष हानि नहीं होती। यह कथन बाबूजी की शैली के लिये बिलकुल ठीक है और गंभीर तथा सरल दोनों प्रकार के विषयों पर लिखते समय उन्होंने इसका पूरा ध्यान रखा है। उनकी साहित्यिक शैली निजी विशेषता रखती है। उसमें यद्यपि किसी प्रकार की चुलबुलाहट, व्यंग्य या कटाक्ष का पुट, जो शैली को विशेष रोचक बना देता है नहीं है, तथापि छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त उनकी शैली में जो गंभीर गुरुत्व है वह उनके आचार्यपद के सर्वथा उपयुक्त है।

उनकी शैली के रूप

बाबूजी ने प्रायः विचारात्मक या भावात्मक तथा गवेषणात्मक निबन्ध ही लिखे हैं। इनके अनुसार ही उनकी शैली मुख्यतः दो प्रकार की है। इनमें गम्भीरता और गुरुत्व—जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है—प्रायः समान रूप से वर्तमान हैं, हाँ, विषय के फल-

विचारात्मक शैली

स्वरूप यथाअवसर उसमें परिवर्तन होगया है। परन्तु आपकी शैली विचारात्मक निबंधों के ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। उनकी इस शैली का उदाहरण यह है—

यह बात स्पष्ट है कि मानव-समाज की उन्नति उस समाज के अंतर्गत व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है; पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी संभव है जब परस्पर विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिये मूल साधन है और इसी की सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ट संबंध है; यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं। पर यहीं उनके संबंध के साफल्य की इतिश्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति और भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि उनका अन्योन्याश्रय संबंध है।

—साहित्य और समाज

बाबूजी की शैली का यह सुंदर नमूना है। भाषा के साहित्यिक रूप के साथ-साथ, विचारों को स्पष्ट करके समझाते हुए इन छोटे-छोटे वाक्यों में सुंदर प्रभाव मिलता है। संस्कृत के शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग यहाँ अवश्य किया गया है, परन्तु भावों को समझने के लिये यहाँ भाषा की कड़ियाँ नहीं तोड़नी पड़तीं। भाषा की तत्समता के विषय में भी कहा जा सकता है, कि 'गंभीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे सीधे संस्कृत से जटिल शब्द लाकर रखने पड़ते हैं।' यहाँ एक बात यह भी ध्यान देनें योग्य है कि उर्दू के शब्दों का बहुत ही कम प्रयोग इस अवतरण में किया गया है। इसका कारण यह नहीं है कि वे उर्दू शब्दों का बहिष्कार करने के पक्ष में हैं, प्रत्युत यह उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति और विषय की गंभीरता का परिणाम है।

आलोचना

बाबूजी के गवेषणात्मक निबंधों की शैली इससे कुछ भिन्न है। उसमें भाषा का संस्कृत रूप और उर्दू शब्दों का न्यूनतम प्रयोग तो इसी प्रकार किया गया है लेकिन उसमें विशेष प्रवाह नहीं, प्रत्युत रूखापन है जिसका कारण विषय की शुष्कता है। 'भाषा-विज्ञान' में ऐसे अनेक अवतरण हैं।

गवेषणात्मक शैली

बाबूजी की शैली की एक विशेषता और है। काव्योपम शृंगार या सजावट उनकी शैली में नहीं है। हाँ, विषय को स्पष्ट करने के लिये रूपक आदि का सहारा उन्होंने अवश्य लिया है। आरंभ मे वे शिक्षक रहे हैं। अतः विषय को पूर्णरूप से स्पष्ट करके विद्यार्थियों को समझा देना उनका स्वभाव ही रहा है। 'जैसे' का बार-बार प्रयोग करके, स्थान-स्थान पर उदाहरण देकर वे अपने विषय की विवेचना करते हुए पाठकों को समझाते हैं और अन्त में 'सारांश यह है' या 'संक्षेप में' आदि कहकर उन्होंने अपने कथन का निष्कर्ष कुछ शब्दों में रख दिया है। उदाहरण के लिए—

हिंदी-साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न कालों में ठीक विभक्त नहीं कर सकते हैं। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है पर आगे बढ़कर और छोटे-छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच-बीच में दूसरी छोटी-छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का संबंध करा देती हैं, कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मंदगति से कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गंदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकल कर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी-कभी जल की एक

धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भूभागों से होकर बहती है वैसे ही हिंदी-साहित्य का इतिहास भी प्रारंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है।

—साहित्यालोचन (पृष्ठ ५१)

बाबूजी ने यहाँ एक विवादग्रस्त विषय को अत्यंत सरल ढंग से समझा दिया है। 'रूपक', 'उदाहरण' (जैसे) और 'सारांश यह कि' सभी बातें ऊपर के अवतरण में आगई हैं।

बाबूजी की शैली में मुहावरों और कहावतों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। गद्य में मुहावरों का प्रयोग न होना कहीं-कहीं पर खटकता है। इस अभाव का कारण, किसी सीमा तक तो बाबूजी की गंभीर प्रकृति ही है, पर कहीं-कहीं विषय की दुरुहता भी।

गंभीर विषयों पर लिखने के कारण और कुछ-कुछ संस्कृत की तत्समता-प्रियता के फल-स्वरूप भी बाबूजी की भाषा गंभीर और शुद्ध साहित्यिक हो गई है। इसे भाषा का दोष कदापि नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाषा प्रायः विषय और प्रवृत्ति के अनुकूल ही हुआ करती है। दो-एक अपवाद स्वरूप स्थलों को छोड़कर बाबूजी ने सर्वत्र ऐसी सुंदर साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है कि उसकी गंभीरता भी सरस जान पड़ती है। ऐसे स्थलों पर संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भवों की भी प्रचुरता रहती है। ऐसी भाषा का उदाहरण देखिए—

ग्रंथों की भाषा
साहित्यिक भाषा

यूरोप के लोग पहले व्यापार का झंडा लेकर आगे बढ़ते हैं। उसके पीछे धर्म का झंडा खड़ा किया जाता है और अन्त में सभ्यता का अजेय दुर्ग खड़ा होकर विजितों को अपना अस्तित्व भुलाकर उसी की महत्ता स्वीकृत करने के लिए बाध्य करता है। भारतवर्ष में भी क्रमशः ये ही घटनाएँ हुईं। जब अँगरेजों के पैर यहाँ जम गए तब उन्हें अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने की चिंता हुई।

—भारतेंदु ग्रंथावली की भूमिका

उनकी भाषा का दूसरा रूप हमें उन निबन्धों में मिलता है जो साधारण पाठकों को समझाने के लिए लिखे

भाषा का दूसरा रूप

गए हैं। प्रसाद गुण इस प्रकार की भाषा में प्रधान है। प्रचलित शब्दों का बाहुल्य इस रूप की विशेषता है। इसका नमूना—

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान बनना चाहते हैं जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडम्बर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुख सहता है और अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है।

—कर्तव्य और सत्यता (मनोरंजन पुस्तकमाला)

बाबूजी के ग्रन्थों तथा निबन्धों में प्रायः इन्हीं दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। पहले में हिन्दी-भाषा का साहित्यिक रूप है और दूसरे में, प्रचलित भाषा का सरल रूप जिसमें लेखक गम्भीरता-पूर्वक विचार करता नहीं जान पड़ता, वरन् एक सत्य को सरल और सहज ढंग से व्यक्त करता है। वास्तव में, उनकी भाषा का प्रतिनिधि स्वरूप नमूना ऊपर दिया हुआ पहला अवतरण ही है जिसमें उनकी प्रकृति के अनुकूल विषय की विवेचना की गई है। इसका एक और उदाहरण 'गोस्वामीजी का काव्य-सौन्दर्य' शीर्षक उनके एक लेख से यहाँ दिया जाता है—

सच्ची सजीव कविता के लिए यह आवश्यक है कि कवि की मनोवृत्तियाँ वर्ण्य विषय के साथ एकाकार हो जायँ। जब कवि की सब भावनाएँ एक मुख होकर जागृत हो उठती हैं तब कवि का हृदय स्वतः ही भावुक उद्गारों के रूप में प्रकट होने लगता है। इस अभिव्यक्ति के लिए न कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न कोई बाहरी रुकावट ही उसे रोक सकती है।

—कल्याण (१३-२ पृ० ६३८-का० १)

संस्कृत शब्दों के पश्चात् उर्दू शब्दों का प्रयोग करने का प्रश्न आता है। बाबूजी ने इन्हें स्वतन्त्रता से अपनाया है। परन्तु इनका प्रयोग केवल इन्हें अपनाने के लिए नहीं किया गया है, प्रत्युत, जान पड़ता है, लेखक की कलम से ये शब्द स्वतः निकल पड़े हैं और लेखक ने उनको बिना किसी हिचकिचाहट के अपना लिया है क्योंकि वे लेखक के भावों को स्पष्ट करने में सहायक हुए हैं। यही कारण है कि यद्यपि दिल, कैदी, तूफान, दबाव, दिखावा, खाली आदि उर्दू के शब्द उनकी रचनाओं और संपादित पुस्तकों में यत्रतत्र मिलते हैं तथापि इनका प्रयोग संस्कृत शब्दों के बीच में इस प्रकार किया गया है कि ये खटकते बिलकुल नहीं। इसका रहस्य वे ही महानुभाव समझ सकते हैं जो संस्कृत के विद्यार्थियों को समझाने के लिए कभी-कभी अरबी-फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग, बिना स्वयं जाने-बूझे कर जाते हैं।

विदेशी भाषाओं के शब्द; उनका रूप

शब्दों के तत्सम रूप की अपेक्षा बाबूजी ने तद्भव रूप का ही व्यवहार किया है। इस संबंध में उनका आदर्श था कि विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अपनाकर हम हिन्दी को खूब व्यापक बनालें। उन्होंने स्वयं ही लिखा है—

जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बनालें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर, हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।

अपना यह सिद्धांत उन्होंने संस्कृत शब्दों पर भी लगाया और अरबी-फारसी के उर्दू भाषा में प्रचलित शब्दों पर भी। संस्कृत में एक ओर तो उन्होंने 'कार्य्य', 'धर्म', 'सौंदर्य्य' आदि शब्दों के अन्तिम ड्योढ़े अक्षर को हटा

तत्सम शब्दों का रूप

कर कार्य, धर्म, सौंदर्य, लिखने-लिखाने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर 'सङ्ग्रह,' 'अञ्जन,' 'घण्टा,' 'फन्दा,' 'सम्पत्ति' आदि शब्दों का पंचम वर्ण उड़ाकर अनुस्वार से काम लेना शुरू किया। यहाँ तक कि द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ में भी, जो उन्होंने संस्कृत-व्याकरण के कट्टर पक्षपाती को सादर भेंट किया था, अनुस्वार का ही प्रयोग किया गया है।

उर्दू के क़लम, क़ानून, क़वायद, तूफ़ान आदि शब्दों के नीचे की बिन्दी उड़ा कर और उनका उच्चारण बदल कर उन्हें बाबूजी ने हिन्दी भाषा में मिला लिया है। जिन प्रांतों में उर्दू अधिक बोली जाती है, वहाँ तो यह परिवर्तन खटकता है पर अन्य में नहीं। हमारे बालक जो आगे चलकर हिंदी पढ़ेंगे उन्हें यह बात नहीं खटकेगी। हिंदी का शब्द-भंडार बढ़ाने का यह गुर वस्तुतः बड़े महत्व का है।

———

पंडित रामचन्द्र शुक्ल

(सन् १८८४—१९४१)

शुक्ल जी का जन्म सन् १८८४ में बस्ती जिला के अगोना गाँव में हुआ था। बाल्यकाल में आपने संस्कृत की शिक्षा पाई। सन् १९०१ में एन्ट्रेंस की, और दो तीन वर्ष बाद एफ० ए० की परीक्षा में सफल होकर सन् १९०६ में आपने क़ानून की परीक्षा दी, पर विफल रहे। तब आप मिशन स्कूल, मिर्ज़ापुर में अध्यापक हो गए। बहुत दिन पहले भारतेन्दु के समकालीन पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा संपादित 'आनंद कादम्बिनी' में आपने लेख लिखे थे और इसके बाद 'सरस्वती' में। हिन्दी संसार इसी समय से आपकी विद्वत्ता से परिचित हो गया था। फलतः सन् १९०८ में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा में आप हिन्दी शब्दसागर के सहकारी सम्पादक बनाए गए। ८-९ वर्ष तक आपने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का संपादन भी किया। इसके पश्चात् काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में आप हिन्दी के प्रोफेसर हो गए और कुछ समय तक यहाँ हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष भी रहे। सन १९४१ में आपका स्वर्गवास हो गया।

परिचय

पंडित रामचन्द्र शुक्ल
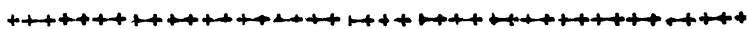
शुक्ल जी हिंदी के अत्यन्त गंभीर और विचारशील लेखक थे। उनकी रचनाओं की प्रधान विशेषता उनकी मौलिकता है। गम्भीर अध्ययन और मनन के पश्चात् ही उन्होंने लिखा था।

हिन्दी-सेवा

अँगरेजी और संस्कृत साहित्य का उन्होंने तुलनात्मक ढंग से अध्ययन किया था। इसीसे उनकी गम्भीर रचनाओं का विद्यार्थी समाज और साहित्य-सेवियों में बड़ा आदर है। उनकी हिन्दी-सेवा कई रूपों में दिखाई देती है—

साहित्यिक लेख

शुक्ल जी ने क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा, श्रद्धा आदि मनोविकारों पर विश्लेषणात्मक और कविता, उपन्यास आदि विषयों पर साहित्यिक लेख लिखे हैं। पहले प्रकार के लेखों में मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है और दूसरे प्रकार के लेख साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। मौलिकता इन निबन्धों की दूसरी विशेषता है। हिन्दी-साहित्य में इनके पहले भी ऐसे लेख बहुत कम लिखे गये थे और इस समय भी अधिक नहीं लिखे गए हैं। इन लेखों के महत्व का तीसरा कारण यही है।

समालोचनाएँ

शुक्ल जी के आदर का प्रधान कारण उनकी समालोचनाएँ हैं। उन्होंने एक प्रकार से समालोचना-क्षेत्र में युगांतर उपस्थित किया है और समालोचकों के सामने एक नवीन आदर्श रक्खा है। इनके पहले जो लोग अँगरेजी-साहित्य का अध्ययन करके हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में आते थे उनका आदर्श अँगरेजी-आलोचकों के विचारों का अनुवाद मात्र कर देना था। कुछ लोग तो इनसे भी आगे बढ़ गए; वे अङ्गरेजी कवियों और लेखकों के विषय में लिखी हुई मनोहर उक्तियों और विचारों को वैसे ही हिन्दी-कवियों और लेखकों के विषय में लिखने लगे। ऐसी आलोचनाओं में मौलिकता या अध्ययन का तो अभाव था ही, साथ ही आलोचना-सम्बन्धी भारतीय आदर्श के प्रति एक प्रकार की उदासीनता भी थी जो हिन्दी के लिए अहितकर थी। शुक्ल जी ने इन दोनों

दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने संस्कृत और अँगरेजी के आलोचना-साहित्य का अध्ययन करके, दोनों के सुन्दर समन्वय द्वारा, एक नवीन आदर्श हिन्दी-साहित्य-समीक्षकों के सामने रक्खा और इस प्रकार भावी आलोचकों के लिए वे पथ-प्रदर्शक बने। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी हुई उनकी आलोचनाएँ अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। उनके पहले, हिन्दी में, गम्भीर और मननशील समीक्षा-साहित्य का जो अभाव था, उसकी पूर्ति करने का शुक्ल जी ने सफल प्रयत्न किया।

विद्वत्ता और योग्यता

आज से लगभग ३५ वर्ष पहले शुक्ल जी 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सहायक संपादक बनाए गए थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी लोग उनकी विद्वत्ता को आदर की दृष्टि से देखते थे। 'हिन्दी-शब्द-सागर' के प्रधान सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास जी थे। उन्होंने इस महान् ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—'हिन्दी-शब्द-सागर' को वर्तमान रूप देने का अधिकांश श्रेय शुक्ल जी को ही है।

कविता

कई फुटकर कविताओं के साथ-साथ शुक्ल जी ने 'बुद्ध चरित' नामक एक काव्य की रचना भी की। इनकी रचनाएँ साधारणतः भाव-पूर्ण, सुन्दर और सरस हैं। पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्रीधर पाठकों ने प्रकृति-सम्बन्धी कुछ कविताएँ की थीं; परन्तु चमत्कारपूर्ण और आलंकारिक होते हुए भी वह प्रकृति का सीधा-सादा वर्णन मात्र है। उसमें मानव हृदय की तल्लीनता और तादात्म्यता का प्रायः अभाव है। हिन्दी-कविता में प्रकृति वर्णन-सम्बन्धी इसी अभाव की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा था—

> कविता वह हाथ उठाए हुए,
>
> चलिए कविवृन्द बुलाती वहाँ।
>
> —आमंत्रण

हिन्दी-कवि आज प्रकृति की ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सहृदय दृष्टि से

देख रहे हैं। कौन जानता है, इस परिवर्तन के अनेक कारण में यह पंक्ति भी एक हो!

आलोचना के साथ-साथ शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है। इस विषय पर आज अनेक पुस्तकें हैं; परन्तु शुक्लजी का इतिहास सबसे अनूठा है। इसकी रचना उन्होंने खोज में प्राप्त सामग्री के आधार पर की थी। हिन्दी में सबसे पहले यही ग्रन्थ संगठित और क्रमबद्ध साहित्य के इतिहास के रूप में पाठकों के आगे आया था।

साहित्य का इतिहास

इसके उपरांत बने हुए सभी इतिहास ग्रन्थों के लिए शुक्लजी के इतिहास ने मार्ग-निर्देशक का काम किया है। इस ग्रन्थ पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग ने ५००) रु० का पुरस्कार भी दिया है।

मौलिक—जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी गम्भीर समालोचनाएँ, 'काव्य में रहस्यवाद' (यह गवेषणात्मक पुस्तक हिन्दी में छायावाद-सम्बन्धी बढ़ती हुई उच्छृंखलता को नियन्त्रित करने के लिए लिखी गई थी); मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक निबन्धों का संग्रह 'विचार वीथी' जो अब 'चिंतामणि' के नाम से प्रकाशित हुआ है और जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२००) का पुरस्कार दिया है, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'।

शुक्लजी के ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त, समय-समय पर आप अँगरेजी पत्रों में भी साहित्यिक लेख लिखा करते थे।

अनुवादित—'विश्व प्रपंच', 'कल्पना का आनन्द', 'राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा', 'मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण', इत्यादि ग्रन्थों का अँगरेजी भाषा से अनुवाद किया तथा 'शशांक' नामक एक उपन्यास का बँगला से।

काव्य—'बुद्धचरित' Light of Asia नामक अँगरेजी पुस्तक का अनुवाद तथा फुटकर कविताएँ।

शुक्लजी के मौलिक गद्य-ग्रंथ मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—(१)

आलोचनात्मक लेख (२) गवेषणात्मक निबन्ध (३) मनोविकार-सम्बन्धी भावात्मक लेख। अनुवादित ग्रन्थों से

ग्रंथों के विषय

उनकी रुचि का पता नहीं लगता। कारण यह है कि अनुवाद-कार्य में शुक्लजी ने विशेष उद्देश्य से हाथ लगाया था और यह बात विभिन्न विषयों की दो-दो एक-एक पुस्तकों के अनुवादित से स्पष्ट है।

सुप्रसिद्ध आलोचक बफ़न ने एक बार कहा था—Style is the man. इसका भाव यह है कि शैली से हमें लेखक के व्यक्तित्व के विषय में बहुत कुछ मालूम हो सकता है। बफन का यह

शुक्लजी की शैली

कथन हिन्दी लेखकों में शुक्ल जी के लिए जितना सत्य है उतना शायद किसी अन्य लेखक के लिए नहीं। 'शुक्लजी का हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है, तथा जीवन एक अध्यापक है। उनके साहित्यिक और दैनिक व्यक्तित्व को हम एक निर्झर-युक्त-भूधर कह सकते हैं, जिसमें एक ओर मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता है तो दूसरी तरफ हृदय की स्रोतस्विनी भावुकता।' यह दोनों बातें ही उनके लिए सत्य हैं; उनके गद्य में तो हम उनके मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता देखते हैं और कविता में, किसी सीमा तक, स्रोतस्विनी भावुकता। गम्भीर व्यक्तित्व और आलोचनात्मक विषय के कारण शुक्लजी की शैली के मुख्य तीन रूप हैं, (१) गहन समीक्षा-शैली, (२) गवेषणात्मक शैली और (३) भावात्मक शैली।

शुक्लजी, एक प्रकार से, आलोचनात्मक शैली के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। उनकी आलोचना-शैली गम्भीर, संयत और मार्मिक है। वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं। विषय का स्पष्टीकरण

गहन समीक्षा-शैली

इतने शिष्ट और संयत ढंग से किया गया है कि लेखक के विचारों को समझने के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस शैली का एक उदाहरण—

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डाल कर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति

की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है ? जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं ? इस क्षेत्र में कवि जो सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दांपत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दावली द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरित-मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरन्त बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साह-पूर्ण जीवन देखते हैं, जिसके भीतर आत्मावलम्बन का विकास होता है। फिर आचार्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीता-राम के परम पवित्र दांपत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरांत अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदन्तर पथिक,वेषधारी राम-जानकी के साथ-साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सात्विक प्रेम का अनुभव करते हैं जिसे हम दांपत्य, वात्सल्य आदि का कोई विशेषण नहीं दे सकते पर जो मनुष्य मात्र में स्वाभाविक है।

रमणीय वन-पर्वत के बीच एक सुकुमार राजवधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तित करते पाकर वे 'वीरभोग्या वसुंधरा' की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीता-हरण या विप्रलंभ-शृंगार का माधुर्य देखकर पाठक फिर लंका-दहन के अद्भुत, भयानक और बीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शांत-रस का पुट तो बीच-बीच में बराबर मिलता ही है। हास्य-रस का पूर्ण

समावेश रामचरित-मानस के भीतर न करके नारद-मोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझने वाले, मानव-जीवन के सुख और दुख, दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर गोस्वामीजी के महत्व पर मुग्ध होते हैं; और स्थूल बहिरंग दृष्टि रखने वाले भी, लक्षण ग्रंथों में गिनाए हुए नवरसों और अलंकारों पर, अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

—गोस्वामी तुलसीदास (भावुकता पृ० ६३-४)

ऊपर का अवतरण शुक्लजी की आलोचनात्मक-शैली का सुंदर नमूना है। छोटे-छोटे वाक्यों में उन्होंने 'कवि और भावुकता' जैसे गूढ़ विषय को संपूर्ण रामचरित के उदाहरण देकर समझा दिया कि तुलसी ने राम के जीवन के सभी मार्मिक-स्थलों को पहचाना है और उनका सुंदर वर्णन किया है। शुक्लजी की इस शैली की मार्मिकता अपनी निजी विशेषता है। इस शैली का दूसरा रूप वह है जहाँ लेखक अनुचित प्रसंगों से क्षुब्ध होकर व्यंग्य का आश्रय लेता है। ऐसे स्थलों पर वे अत्यंत शिष्ट ढंग से परन्तु क्षुब्ध होकर व्यंग्य करते दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए—

आलोचनात्मक शैली में व्यंग्य का मिश्रण

हम नहीं समझते कि बिना हिंदी वालों की खोपड़ी को एक-दम खोखली माने उनके बीच इस प्रकार के अर्थ-शून्य वाक्य छायावाद के संबंध में कैसे कहे जा सकते हैं कि 'यह नवीन जागृति का चिह्न है; देश के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है, इत्यादि, इत्यादि। भला देश की नई 'जागृति' से, देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या संबंध? क्या हिंदी के वर्तमान साहित्य-क्षेत्र में शब्द और अर्थ का संबंध बिल्कुल टूट गया है? क्या शब्द की गर्द भरी आँधी विलायत के कला-क्षेत्र से धीरे-धीरे हटती हुई अब हिंदी वालों की आँख खोलना मुश्किल करेगी?

ऊपर दिए हुए दोनों अवतरण समीक्षा-शैली के ही हैं; परन्तु दोनों

की शब्द-योजना और वाक्यों में अन्तर है। इसका कारण यह है कि पहला विषय शुक्लजी को प्रिय है, उनके आदर्श के अनुकूल है। इसी से मुग्ध और मुदित-से होकर वे कवि की आलोचना कर रहे हैं। दूसरे विषय के आदर्श से वे सहमत नहीं हैं; यही नहीं, हिंदी का ऐसे अनर्गल प्रलापों से, उनकी सम्मति में जान पड़ता है, अहित होने की संभावना है। इसी से मार्मिक व्यंग्य की चोट करते-करते वे क्षुब्ध हो उठे हैं।

आलोचनात्मक शैली से गवेषणात्मक शैली का रूप कुछ अधिक दुरूहता और गंभीरता लिए हुए है। उनकी शुद्ध आलोचना-शैली में ही व्यावहारिक भाषा का प्रयोग कम हुआ है, तब गंभीर गवेषणा में प्रवृत्त होने पर तो उसके लिए स्थान ही नहीं था। इस प्रकार की शैली हमें ऐसे स्थलों पर मिलती है जहाँ 'शब्द-निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के दिग्दर्शन एवं प्रतिपादन' की आवश्यकता पड़ी है। इसका उदाहरण—

गवेषणात्मक-शैली

ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (static) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय है। कला-पक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्म-पक्ष से देखने में मंगल है। जिस समान काव्यभूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुंदर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक-सौंदर्य की चर्चा बचा कर मंगल ही का जिक्र किया करता है। टालसटॉय इस प्रवृत्ति-भेद को न पहचान कर काव्य-क्षेत्र में लोक मंगल का एकान्त उद्देश्य रख कर चले। इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृ-भाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी
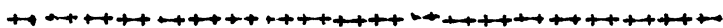
दृष्टि बहुत संकुचित हो गई जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होता है। यदि टाल्सटॉय की धर्म-भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोकधर्म का भी समावेश होता तो शायद उनके कथन में इतना असामंजस्य न घटित होता।

ऊपर दिए हुए शुद्ध आलोचना शैली के उदाहरण और इस गवेषणात्मक अवतरण के वाक्य-विन्यास में विशेष अन्तर नहीं, केवल शब्द-योजना में ही थोड़ा अंतर है। उदाहरण देकर शुक्ल जी ने यहाँ भी अपने कथन को स्पष्ट करने की चेष्टा की है और वहाँ भी। इसलिए यदि ध्यान से देखा जाय तो हमें जान पड़ेगा कि उनकी शुद्ध आलोचना शैली के मुख्य दो प्रकार हैं; एक में मार्मिक आलोचना प्रधान है और दूसरे में गवेषणात्मक विवेचना। इन दोनों के उदाहरण दिए जा चुके हैं।

मनोविकारों पर लेख लिखने का प्रयास सर्वप्रथम शुक्लजी ने ही किया है। इनके लिए उन्होंने जिस शैली को अपनाया, वह उनकी साहित्यिक-शैली से कुछ भिन्न है। इसमें वाक्य वैसे ही छोटे-छोटे हैं जिससे विषय सुबोध और बोधगम्य हो जाता है। शब्द-योजना में भी विशेष अन्तर नहीं है, परन्तु विषय की स्वच्छंदता के कारण भाषा के जिस प्रचलित और व्यावहारिक रूप को यहाँ अपनाया गया है उससे भाव व्यंजना में जो प्रवाह परिलक्षित होता है वह इस शैली की विशेषता है। इनके निबंधों में, विचार-शक्ति का अच्छा संगठन रहता है; अतएव वाक्यों के रूप में बाहर जब इसका स्वरूप उपस्थित होता है तब उसमें आंतरिक और बाह्य भाव-व्यंजना में एक वैचित्र्यपूर्ण सामंजस्य दिखाई पड़ता है। एक के उपरांत दूसरे विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होते जाते हैं कि धीरे-धीरे विचारों की एक लड़ी बन जाती है। इन निबंधों में से यदि कोई एक वाक्य भी बीच में से निकाल लें तो समस्त भाव-माला अस्त-व्यस्त हो जायगी, इस शैली के भी दो मुख्य भेद किए जा सकते हैं। जब वे मनोविकारों की व्याख्या करते हैं तब हमें उनकी

भावात्मक शैली

व्याख्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं जिसमें साहित्यिक-शैली की सी गंभीरता है। इसका उदाहरण—

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उनके संबंध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आयगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख की स्थापना और दुख का निराकरण हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक हैं तथा जिस अन्तःकरण वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है; पर एक तो कृपा या अनुग्रह में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतीकार है। दूसरी बात यह कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

—विचार वीथी (करुणा पृ० ५३)

ऊपर के व्याख्यात्मक अवतरण और पहले दिए हुए गवेषणात्मक शैली के अवतरण की शब्द योजना और वाक्य-विन्यास में विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होगा। परन्तु विचार के स्पष्टीकरण के लिए ऐसी गठी हुई प्रवाह पूर्ण शैली के दर्शन वहाँ नहीं होते। इस भावात्मक शैली का दूसरा रूप वह है जहाँ विषय की व्याख्या—विवेचना या गवेषणा नहीं—अत्यंत सरल ढंग से उदाहरण

भावात्मक शैली का दूसरा रूप

देकर की गई है। ऐसे स्थलों को पढ़कर हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी होने लगती है। इसका उदाहरण—

इनमें से प्रथम (प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा) प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोध-ग्रस्त होती है, इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है; लगा करे, दूसरों को इससे क्या ? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाए जायँगे। दूसरे के लोभ की निंदा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पाने वाले और न देने वाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं; एक कहता है, वह बड़ा लोभी है; देता नहीं। दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है, बराबर माँगा करता है।'

—विचार बीथी (लोभ और प्रीति पृ० ५२)

भावात्मक शैली के दोनों व्याख्यात्मक अवतरणों में जो अंतर है, वह बिल्कुल स्पष्ट है।

शुक्लजी के गद्य में गंभीर विवेचना के साथ-साथ मीठी-मीठी चुटकियाँ भी मिलती हैं जिनका प्रभाव व्यंग्योक्तियों से कम नहीं पड़ता।

हास्य का पुट

मुहावरों का प्रयोग उन्होंने अधिक नहीं किया है, गंभीर आलोचनात्मक तथा गवेषणात्मक निबंधों में तो 'नहीं' के बराबर ही मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं; परन्तु शिष्ट और मार्मिक परिहास के साथ-साथ इनका प्रयोग अत्यंत सुंदर ढग से हुआ है। इसके दो-एक उदाहरण—

(१) हवा से खेलने वाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी। चाहे उनकी जिंदादिली की कद्र न की हो।

(२) एक कविजी ने कहा है—
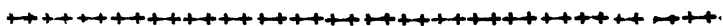
नजर दे नहिं, ए री सुहागिन,
आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन।

यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए हँसिया, छुरी आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।

(३) बिहारी की नायिका जब साँस लेती है, तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम की-सी दशा उसकी रहती है।

इस प्रकार के हास-परिहास के योग से गंभीर विषय भी थोड़ा-बहुत रोचक हो जाता है।

शुक्ल जी हिंदी-भाषा की स्वतंत्र अभिव्यंजन-शक्ति के पक्षपाती थे; उनका प्रयत्न प्रायः यही रहा कि हिंदी-भाषा को सभी विषयों की व्याख्या के योग्य बना दिया जाय। साथ ही, वे गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे। इन दोनों ही बातों का शुक्ल जी की भाषा पर प्रभाव पड़ा है। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत और प्रौढ़ है जिस पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। कई लेखकों की भाषा के बीच से उनकी भाषा पहचानी जा सकती है, यही इसकी विशेषता है। शब्दों का प्रयोग भी शुक्ल जी ने बड़ी सावधानी से किया है; व्यर्थ की 'भरती' का एक शब्द भी इनके निबंधों में नहीं मिलता।

शुक्लजी की भाषा

शुक्ल जी विशुद्धता के पक्षपाती थे। संस्कृत शब्द उनकी हिंदी में अधिकतर मिलते हैं। गंभीर विषयों पर गंभीरता-पूर्वक विचार करते समय उनकी भाषा ठेठ हो जाती है। यह बात स्वाभाविक ही है, किसी प्रकार के पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं। ऐसी विशुद्ध भाषा उन्होंने प्रायः गंभीर, आलोचनात्मक लेखों में ही लिखी है। उदाहरण के लिए--

जीवन के अनेक मर्म-पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जगती रहती है, उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे

सामने लाते बनेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसी स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है, जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता को अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के संबंध से मुक्त करके जगत के वास्तविक दृश्यों, जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता है, वही सच्चा कवि हृदय है।

आलोचनात्मक लेखों के लिए प्रायः सर्वत्र शुक्ल जी ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। इस आलोचनात्मक भाषा के जन्मदाता भी वास्तव में वे ही कहे जाते हैं। ऐसी प्रौढ़ और सबल भाषा आलोचना-साहित्य के लिए बड़ी आवश्यक थी। परंतु गवेषणात्मक निबंधों अथवा स्थलों में यह शुद्ध साहित्यिक संस्कृत-पदावली विशेष क्लिष्ट हो गई है। यह क्लिष्टता अथवा गहनता, जो साहित्यिक निबंधों में ही अधिक दिखाई देती है, मनोवृत्तात्मक निबंधों में ('विचार वीथी, में संकलित) नहीं दिखाई देती। इनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल, और व्यवहारिक है जिसने निबंधों को विशेष रोचक बना दिया है। एक छोटा-सा उदाहरण, भाषा की दृष्टि से, देखिए—

आलोचनाओं की भाषा

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ-अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह, जो कर्तव्य-कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्म-रक्षा, पर-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है, उसके सौंदय को पर पीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता।

—उत्साह (चिंतामणि)।

भाषा के विभिन्न रूपों की विवेचना करने के पश्चात् जिस बात की ओर हमारा ध्यान जाता है वह है लाक्षणिकता। 'अँगरेजी में एक प्रकार की लाक्षणिकता होती है जो शब्दों के प्रयोग
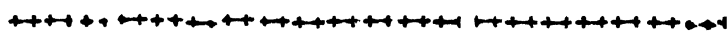
लाक्षणिकता

भाषा में पर निर्भर न रह कर संपूर्ण वाक्य-संगठन के आश्रित रहती है। इस लाक्षणिकता का प्रयोग वाच्यार्थ में सहायता देने के लिए नहीं होता, किंतु भावों को एक विशेष वक्रता से प्रकट करने में इसका उपयोग होता है। इस प्रणाली की अनेक शैलियाँ अँगरेजी साहित्य में प्रचलित हैं। संस्कृत की विपरीत लक्षणा भी इसके अंतर्गत आ जाती है। इस प्रकार की लाक्षणिकता का प्रयोग शुक्ल जी की भाषा में प्रायः मिलता है।' यह विशेषता हिंदी के अन्य साहित्य-सेवियों की भाषा में प्रायः नहीं मिलती।

गंभीर अध्ययन और मनन के योग्य साहित्य का शुक्ल जी के प्रादुर्भाव के समय, हिंदी में, एक प्रकार से अभाव ही था। जब

भाषा की अभिव्यंजन-शक्ति की वृद्धि

साहित्य-सेवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ तब पहली आवश्यकता भाषा को अभिव्यंजन शक्ति और व्यापकता बढ़ाने की प्रतीत हुई। यह कार्य दो प्रकार से हो सकता था। हिंदी भाषा के ही पूर्व प्रचलित शब्दों का, जो उस समय व्यवहार में नहीं आते थे, फिर से उद्धार किया जाय और दूसरे, अन्य भाषाओं की सहायता से नए शब्द गढ़े जायँ। तीसरा उपाय दूसरी भाषा के शब्दों को हिंदी का बना लेना था। शुक्ल जी इस तीसरे उपाय के तो विशेष पक्ष में न थे, हाँ, अन्य दोनों को उन्होंने सहर्ष अपना लिया। यों, उन्होंने हिन्दी की अभिव्यंजन-शक्ति बढ़ाने के लिए नवीन शब्दों का निर्माण किया और अनेक प्रचलित शब्दों का पुनरुद्धार भी। 'विश्व प्रपंच' नामक अँगरेजी से अनुवादित पुस्तक की भूमिका में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अब विदेशी शब्दों के प्रयोग की बात आती है। शुक्ल जी ने अँगरेजी और उर्दू, दोनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु ऐसा करने में उनका विशेष उद्देश्य निहित है—दोनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग उद्देश्य-विशेष से किया गया है। आलोचना या
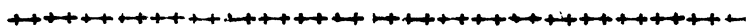
विदेशी शब्दों का प्रयोग

साहित्यिक विवेचना के लिए शुक्ल जी को अँगरेजी भाषा के आलोचनात्मक साहित्य से सहायता मिली है। अतः जहाँ उनका भाव किसी संस्कृत शब्द से पूर्ण स्पष्ट नहीं होता वहाँ 'अपने अभिप्राय को पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्पष्ट करने के लिए उन्हें प्रायः अँगरेजी शब्दों का भी निर्देश करना पड़ता है।' परन्तु उर्दू शब्दों का प्रयोग उन्होंने साहित्यिक अथवा भावात्मक निबंधों में न करके हास्य अथवा व्यंग्य को चुटकीला और सजीव बनाने, तथा उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए किया है। यों, वे प्रचलित शब्दों के प्रयोग के पक्ष में अवश्य हैं, परन्तु उन्हें हिंदी का बनाने-अपनाने-के विचार से नहीं। इसी से उनका प्रयोग शुक्ल जी ने प्रायः तत्सम रूप में—'चीज', 'तारीफ़', 'ज़रूरी', 'मज़ाक', 'ख़ैरियत',—किया है; बाबू श्यामसुन्दरदास जी की तरह तद्भव रूप में नहीं।

शैली और भाषा के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'भाव-क्षेत्र में असंबद्ध रूप से छितराई हुई बातों का एक सूत्र-रूपी केंद्र स्थापित कर

आलोचना

इतर भावों को एक लड़ी में पिरोने की कला शुक्ल जी की विशेषता है।' साथ ही, 'जटिल से जटिल विषयों का प्रतिपादन करते समय उनके वाक्यों तथा उपवाक्यों का गठन इतना व्यवस्थित तथा व्याकरणानुकूल होता है कि विचार-धारा विच्छृंखलित नहीं होने पाती। जैसे निर्मल जल के सोते में नीचे का पृथ्वीतल स्पष्ट झलकता हुआ दिखाई देता है वैसे ही इनके निबंधों में इनका हृदय भी स्पष्ट लक्षित होता है।' साथ ही हमने यह भी देख लिया कि 'शुक्ल जी की भाषा सदैव भाव-निदर्शन के अनुरूप हुई है, जिस स्थान पर जैसा विषय था वैसी ही भाषा प्रयुक्त हुई है। ज्यों-ज्यों विषय की गहनता और उत्कृष्टता उन्नति पाती गई है त्यों-त्यों भाषा के रूप-रंग में भी परिवर्तन होता गया है। भाषा और शैली को अपने भावानुकूल बना लेना बड़े दक्ष लेखक की प्रतिभा का काम है। इसके अतिरिक्त दूसरी यह बात हम व्यापक रूप में पाते हैं कि

'लेखक के एक-एक वाक्य में भावनाओं का संसार अंतर्निहित है। यही कारण है कि शैली और भाषा की जो प्रौढ़ता हमें इनकी रचनाओं में मिलती है, वह अन्य अधिकांश हिंदी-लेखकों की रचनाओं में नहीं।

————

पंडित पद्मसिंह शर्मा

(सन् १८७६—१९३२)

परिचय

शर्माजी संयुक्त-प्रान्त के बिजनौर जिले के निवासी थे। बाल्य-काल में इन्होंने उर्दू, फारसी के साथ-साथ हिन्दी और संस्कृत का बड़ा अध्ययन किया था। कालांतर में, वे ज्वालापुर के गुरुकुल में अध्यापन-कार्य करने लगे। साथ ही, वे साहित्य का अध्ययन भी करते रहे। हिंदी-संसार इस समय तक इनसे विशेष परिचित न था; क्योंकि ये कभी-कभी लेख ही लिखा करते थे। कुछ समय पश्चात् जब बिहारी-सतसई पर पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका हिंदी-संसार के सामने आई तभी पद्मसिंह शर्मा जी को भी हिंदी वाले पहचान सके। शर्मा जी ने इस टीका पर 'सतसई-संसार' नामक एक आलोचना लिखी। यही पुस्तक वास्तव में उनकी प्रसिद्धि का प्रधान कारण है। इस आलोचनात्मक पुस्तक पर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी शर्मा जी को मिला था।

हिंदी-सेवा

शर्मा जी की हिंदी-सेवा, अपने समकालीन प्राय: अन्य लेखकों की प्रकृति के विपरीत, केवल एक ही ओर झुकी जान पड़ती है, यद्यपि कवियों के प्रति उनकी बड़ी सहानुभूति थी और समय-समय पर उन्होंने कुछ साहित्यिक लेख भी लिखे थे। वे केवल अपनी तुलनात्मक समालोचना की नवीन शैली के कारण ही हिंदी में प्रसिद्ध हैं। बिहारी पर लिखी हुई अपनी आलोचनात्मक पुस्तक में सात वाहन-संगृहीत 'गाथा-सप्तशती' (प्राकृत), गोवर्धनार्य-प्रणीत 'आर्यासप्तशती' (संस्कृत) तथा अन्य कवियों के पद्यों की तुलना उन्होंने बिहारी के दोहों से की है। वास्तव में उनकी तुलना आभ्यांतरिक न होकर वाह्यतथ्यो पर ही आश्रित है। साथ ही, अपने प्रिय कवि के साथ उन्होंने थोड़ा पक्षपात भी किया है, वैसे ही जैसे वकील अपने मुवक्किल की पैरवी करता है।

शर्मा जी की प्रसिद्ध पुस्तकें केवल दो ही हैं—(१) पद्मपराग और (२) बिहारी-सतसई। पहली पुस्तक में उनके लेखों का संग्रह

पंडित पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी के ग्रन्थ

है और दूसरी में तुलनात्मक समालोचना और फिर बिहारी के कुछ दोहों की टीका। इनके अतिरिक्त अनेक विषयों पर लिखे हुए उनके फुटकर लेख

और व्याख्यान असंकलित ही पड़े हैं।

शर्मा जी का प्रिय विषय समालोचना है। परन्तु उन्होंने आचार्य शुक्लजी की भाँति विशेष गवेषणा करके आलोचना नहीं की, जिससे उनकी पुस्तक या निबंध गंभीर अध्ययन की चीज हो जाते। उन्होंने केवल बिहारी को बड़ा साबित करने और बिहारी के टीकाकार के दोष दिखाने के लिए ही समालोचना की थी। इसी से 'हाय-हाय', 'वाह-वाह', 'क्या-खूब' आदि की झड़ी-सी उन्होंने लगा दी है। इस चुहुलबाजी की प्रधानता और गंभीरता के अभाव के साधारणतः तीन कारण हो सकते हैं। पहला यह कि बिहारी को वे श्रेष्ठ प्रमाणित करना ही चाहते थे। दूसरी बात उनकी समालोचना का विषय बिहारी जैसे रसिक कवि की शृंगारी कविता का होना है, जिसमें विरह और प्रेम की गंभीर विवेचना न होकर अतिशयोक्तिपूर्ण चुहुलबाजी ही की प्रधानता है। तीसरे, अपनी तुलनात्मक समालोचना के लिए उन्होंने ऐसा ढंग अपनाया जो उर्दू-कवियों की शृंगारी कविता की दाद देने के लिए मुशायरों में दिखलाई देता है।

ग्रन्थों के विषय

रही अन्य आलोचनात्मक लेखों की बात। यद्यपि इन पर भी उनकी विनोदी प्रकृति का प्रभाव पड़ा है, तथापि इनमें अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता मिलती है। विषय और स्थिति की गम्भीरता का परिणाम भी इसे कह सकते हैं।

शर्मा जी की शैली मुख्यतः दो प्रकार की है। पहली, आलोचनात्मक-शैली और दूसरी, वर्णनात्मक गम्भीर शैली। आलोचनात्मक शैली में इन्होंने बिहारी-संबंधी पुस्तक लिखी है। इस शैली पर, जैसा पहले कहा जा चुका है, उर्दू समाज, मुशायरे या महफिल के उस ढंग का प्रभाव पड़ा है जिसमें कविता की दाद 'वाह-वाह', 'शाबाश-शाबाश', 'वल्लाह, क्या खूब कहा' आदि कह कर दी जाती है। इस शैली का एक उदाहरण

शर्मा जी की शैली

—

आलोचनात्मक शैली

यहाँ दिया जाता है—

कितनी पते की बात कही है ! कैसा सुंदर दृष्टांत है !

\+ + + +

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाय।
तरु संसार पयोधिकों, हरि नामैं करि नाव॥

कैसा अच्छा रूपक बाँधा है ! कितनी सच्ची बात कही है ! हरि नाम को नाव बना और जयमाला की पतवार पकड़—बस, इस संसार समुद्र को तर जा, और कोई उपाय पार उतरने का नहीं है।

\+ + × +

वाह ! उस्ताद क्या कहने हैं ! क्या सफाई खेली है ! काया ही पलट दी ! कोई पहचान सकता है ? बात वही है। देखिए तो आलम ही निराला है। क्या ताक कर 'शब्दवेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही तो दिया। एक 'अनियारे पन' ने धवल कृष्ण-पक्ष वाले सब को एक अनी की नोंक में बाँध कर एक ओर रख दिया और वाह री 'चितवन' ! तुम्हारी चितवन की ताब भला कौन ला सकता है ? फिर 'सुंदरी' और 'तरुणी' में भी कहते हैं, कुछ भेद है। एक वशीकरण का खजाना है तो दूसरी खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ठहरी। इस एक पद पर तो ऐड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है।

—बिहारी सतसई

इस प्रकार की चुहुलबाजी प्रायः उन्हीं स्थलों पर विशेष रूप से दिखाई देती है जहाँ उर्दू के ढंग की 'महफिली शाबाशी' के लिए गुंजाइश है। परन्तु जब तक वे इसके लिए भूमिका बाँधते रहते हैं, इस चुहुलबाजी का उक्त रूप सामने नहीं आता; और उनकी शैली कुछ गंभीरता लिए रहती है। इस कथन की पुष्टि इस अवतरण से हो सकती है—

चुहुलबाजी की गंभीर भूमिका

यह सब बातें बिहारी की कविता में प्रचुर परिमाण में पायी जाती हैं। 'सतसई' पढ़ने से प्रतीत होता है कि बिहारी का प्रकृति-पर्यवेषण बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। मानव-प्रकृति का उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका संस्कृत-साहित्य का पांडित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृत महारथी कवियों के मुकाबिले में उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृत पद्यों की छाया पर रचना करके नवीन चमत्कार लाकर कहीं-कहीं उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों में भी उनका प्रगाढ़ परिचय था।

बिहारी की प्रतिभा का विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र-समान रूप से उसकी गति अप्रवाहित थी। भास्कर की प्रभा की तरह वह प्रत्येक पदार्थ पर पड़ती थी। यही नहीं, जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती, वहाँ भी वह पहुँचती थी। 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' इस कथन की पुष्टि बिहारी की कविता से अच्छी तरह होती है। सूर्य की किरणें आलोक-ग्राही पदार्थ पर पड़कर अपने असली रूप में प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं। परन्तु बिहारी की अद्भुत प्रतिभा का प्रकाश जिस पदार्थ पर भी पड़ा, उसे ही अपने रूप में चमका दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकंडे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्य की पर-प्रतारण, ज्योतिषी का ग्रहयोग, सूम की कंजूसी, जिसे देखिए वही कविता के रंग में रंगा चमक रहा है।

—बिहारी सतसई

इस अवतरण में पहले की-सी चुलबुलाहट नहीं मिलती और इसमें भी बिहारी की कविता की ही आलोचना की गई है। यह आलोचना की गंभीर शैली है जिसमें यद्यपि कहीं-कहीं पर व्यंग्य अथवा हास्य की पुट मिलती है, तथापि वह चुहुलबाजी नहीं दिखाई देती जो आलोचनात्मक

निबंधों की गंभीर आलोचना-शैली

लेखों की गंभीरता और अध्ययन के लिए घातक है। वस्तुतः उनकी आलोचना शैली के उक्त दोनों ही रूप हमें उनकी तुलनात्मक आलोचना-पुस्तक में मिलते हैं। इस दूसरी गंभीर शैलीमें ही प्रायः उनके निबंध लिखे गए हैं तथा विनोद-पूर्ण मनोरंजन के लिए उसमें हास्य और व्यंग्य की पुट भी मिलती है। वाक्य सर्वत्र छोटे-छोटे हैं जिनमें विशेष सजीवता है और प्रवाह भी सुंदर है। 'भगवान् श्री कृष्ण' शीर्षक उनके निबंध से नीचे एक अवतरण और दिया जाता है। ऊपर की गंभीर शैली के उदाहरण से तुलना करने पर उक्त कथन और भी स्पष्ट हो जायगा—

पांडव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए समान रूप से प्रयत्नशील थे। 'लोक संग्रह' के तत्त्व से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने आजकल के जमाना साज लीडरों की तरह सर्वप्रियता या हरदिल अजीजी में फँस कर अपने करारेपन को दाग नहीं लगाया। मेल-मिलाप की मोहमाया में भूल कर, न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बताकर अपनी समदर्शिता या उदारता का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गए और भयानक संकट के भय से भी कर्तव्य-पराङ्मुख न हुए।

हमारे इस युग के लीडरों में तिलक महाराज ने श्रीकृष्ण-चरित के तत्व को सबसे अधिक समझा था और उनकी दृढ़ता और तेजस्विता का कारण भी यही था। महाभारत का भगवच्चरित्र उनके मन की सबसे प्रिय वस्तु थी। मालवीय जी महाराज और श्री लालाजी भी श्रीकृष्ण के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में हैं।

शर्मा जी ने स्थान-स्थान पर हास्य और व्यंग्य का पुट दिया है। इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखना चाहिएँ। एक, जिस सुंदर और आकर्षक ढंग से उन्होंने इसका प्रयोग किया है वह बड़ा प्रभावशाली है। दूसरी, शर्मा जी का व्यंग्य शिष्ट और साहित्यिक ही है; उससे

व्यंग्य का पुट

पक्षी-विपक्षी दोनों का मनोरंजन ही होता है, दिल पर घाव वह नहीं करता।

शर्मा जी की भाषा में गंभीरता उतनी नहीं है जितनी सजीवता और सरसता। यही कारण है कि उनकी भाषा को अपनाने का प्रयत्न कई बार किया गया है। अपनी शैली द्वारा तो वे दूसरों को मुग्ध कर ही लेते थे, भाषा से भी उनके पाठकों का मनोरंजन होता है। शब्द-समूह और मुहावरों का प्रयोग उन्होंने इस ढंग से किया है कि भाषा में सर्वत्र एक प्रवाह-सा मिलता है। इसका एक कारण यह है कि उन्होंने प्रायः प्रचलित भाषा का ही प्रयोग किया है।

शर्माजी की भाषा में प्रवाहपूर्णता

परन्तु विशुद्ध हिंदी, ठेठ उर्दू और हिंदुस्तानी का जो झगड़ा आज चल रहा है, उसके दोषों से वे परिचित थे। एक बार 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' के अधिवेशन में व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था कि इन तीनों रूपों में एक-एक कठिनाई है। विशुद्ध हिंदी और खालिस उर्दू पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर बहुत ही कम काम में आती हैं। पंडितों के व्याख्यान और मौलवियों के खुतबे सुनने वालों की समझ में मुश्किल से आते हैं और इनका दायरा बहुत ही महदूद है—क्षेत्र अत्यंत संकुचित है। हिंदुस्तानी में यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रंथ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भंडार को काफी नहीं पाता और अपने हिंदुस्तानी के दायरे को छोड़कर कभी उसे खालिस उर्दू की तरफ और कभी विशुद्ध हिंदी की ओर झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषाएँ या इस्तलातें उधार लेनी पड़ती हैं।

प्रश्न हो सकता है कि शर्मा जी वास्तव में किस भाषा के पक्षपाती हैं। इस संबंध में कि लेखकों कैसी भाषा अपनानी चाहिए, शर्मा जी का यह विचार ध्यान देने योग्य है—

जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका, यह सहृदय

भाषा-रूप-सम्बन्धी विचार

समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी बहुत दिनों तक साहित्य-संसार में खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम चलाऊपन के साथ भाषा में सरलता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है। विषय की दृष्टि से न सही, भाषा के महत्वों की दृष्टि से भी देखिए तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्य-वाटिका से—जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के भय से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरंद के लिए मधुमक्खिकाओं को इस चमन में आना ही होगा। यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्याल से स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिए उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं, अपने साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है ?

अभी हाल ही में एक महाशय ने 'रामचरितमानस' की भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव किया है। इस दृष्टि से शर्मा जी का उक्त प्रस्ताव भी महत्व का है।

———

श्रीयुत प्रेमचंद जी

(सन् १८८०—१९३६)

बाबू प्रेमचंद जी का असली नाम धनपतराय था। आपका जन्म सन् १८८० में एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल में हुआ था। आरंभ में

परिचय

इन्होंने उर्दू-फारसी की शिक्षा पाई। सन् १८९९ के लगभग इन्होंने मैट्रीकुलेशन पास किया और ये एक स्कूल में अध्यापक हो गए। उस समय इनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी और लगभग २०) मासिक ही इन्हें मिलते थे। परंतु इन्होंने किसी प्रकार बी० ए० पास कर लिया। इसके कुछ समय बाद राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होकर इन्होंने नौकरी छोड़ दी।

उर्दू में सन् १९०१ के लगभग ही इन्होंने कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया
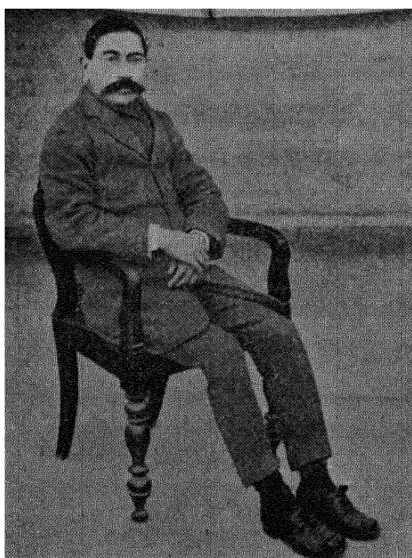
हिंदी के क्षेत्र में

था। ५-६ वर्ष बाद ये उपन्यास भी लिखने लगे। अपने समय के ये उर्दू के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक थे और आपकी कहानियाँ उर्दू के सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र 'जमाना' में आदर से स्थान पाती थीं। सन् १९१५ के आस-पास से ये अपनी उर्दू कहानियों और उपन्यासों का रूपांतर हिंदी में करने कराने लगे। यों, इन्होंने हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण

श्रीयुत प्रेमचंद जी

किया। लगभग २० वर्ष तक हिंदी में कहानियों और उपन्यास लिखकर इन्होंने अक्षय कीर्ति प्राप्त की। 'मर्यादा' और 'माधुरी' का संपादन भी इन्होंने कुछ समय तक किया। तत्पश्चात्, सरस्वती-प्रेस, बनारस की स्थापना करके 'हंस' (मासिक) और 'जागरण' (साप्ताहिक) का संपादन किया। सिनेमा में भी ये कुछ दिन काम करने गए थे।

हिंदी-सेवा—कलापूर्ण मौलिक कहानियाँ

प्रेमचंदजी ने लगभग ४०० कहानियाँ लिखीं। उपन्यासों से अधिक इनकी कहानियों का प्रचार है और उनमें उपन्यासों से अधिक मार्मिकता भी है जो हृदय की चुटकी लेती है। संपूर्ण जीवन की समस्त परिस्थितियों की मार्मिक विवेचना इनकी कहानियों में मिलती है और जिन कहानियों में हर्ष-शोक, सुख-दुख, ममता-कर्तव्य आदि विपरीत भावों का द्वंद्व है, वे बड़ी उच्चकोटि की हैं।

श्रेष्ठ मौलिक उपन्यास

उपन्यास के क्षेत्र में भी इन्होंने मौलिक और आदर्श कार्य किया। हिंदी के, वास्तव में, यही सर्व प्रथम साहित्यिक उपन्यास लेखक हैं और मौलिकता की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है। इनके उपन्यास हमारे साहित्य की स्थायी संपत्ति है। सबसे महत्वपूर्ण कार्य, इस क्षेत्र में, उनका यह है कि तत्कालीन उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र में उन्होंने युगांतर उपस्थित किया। उनके पहले भी हिंदी में उपन्यास लिखे गये थे उनका प्रचार भी बहुत हुआ था। यद्यपि उनसे पाठकों का मनोरंजन अवश्य होता था, तथापि उनमें जनता की रुचि को उन्नत बनाने अथवा उसमें संस्कार करने की क्षमता नहीं थी। यह कार्य प्रेमचन्दजी की कृतियों ने किया; कथा-कहानियों को सुंदर साहित्यिक रूप देकर जनता की रुचि को इन्होंने उन्नत किया।

अतः प्रेमचंद जी ही हिंदी के प्रथम कहानी और उपन्यास लेखक हैं, जिनकी साहित्यिक और मौलिक कृतियों का उर्दू, मराठी, गुजराती, जापानी, बँगला, अँगरेजी आदि भाषाओं में

श्रेष्ठता की कसौटी

अनुवाद हो चुका है। अब तक हमने इन भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया था। कह सकते हैं कि प्रेमचंदजी ने इस ऋण को अदा करने की ओर कदम बढ़ाया था।

प्रेमचंद जी के प्रायः सभी उपन्यासों में और अधिकांश कहानियों में पाठकों के लिए कुछ न कुछ उपदेशात्मक संदेश अवश्य है और

मणि-कांचन-संयोग

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक, प्रायः सभी कुरीतियों की उन्होंने आलोचना भी की है। परंतु इसके लिए उन्होंने ऐसे मीठे ढंग को अपनाया है कि उससे पाठकों का मनोरंजन तो होता है पर किसी प्रकार की कटुता का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार उनकी रचनाओं में 'शिवं सुंदरं' का मणि-कांचन-संयोग है।

दूसरी बात इनकी कृतियों के संबंध में यह भी कही जा सकती है कि वे 'मनुष्य जीवन की साधारण से साधारण घटना को लेकर

मनोवैज्ञानिक चित्र

उसका निष्कर्ष निकालते समय मनुष्य-हृदय के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को मनोविज्ञान के नियमों के ढंग पर ऐसा सजाकर धर देते हैं कि देखते ही बनता है।' दूसरे शब्दों में, 'मनुष्य-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति का मनोवैज्ञानिक चित्र' इन्होंने खींचा है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी हिंदी के लेखकों में इनका विशेष

चरित्र-चित्रण की स्वतंत्रता

स्थान है। इनके सब पात्र स्वच्छन्द जीवित नर-नारी हैं। जान पड़ता है कि उनको इन्होंने बोलने-चलने-फिरने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी है और जो वे कहते हैं उसी का चित्र ये खींचते जाते हैं।

उनकी रचनाओं की एक और विशेषता है। इन्होंने न तो 'उग्र' जी की तरह यथार्थ के नाम पर सामाजिक नग्न चित्र खींचे हैं और न आदर्श के पीछे पड़कर वे उपदेशक ही बन गए

यथार्थ और आदर्श का समन्वय

हैं। एक निपुण चित्रकार की तरह उन्होंने यथार्थ का उतना ही चित्रण किया है जितना विषय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है और कुशल कलाकार की तरह आदर्श की ओर भी उतना ही संकेत किया है जितना सहृदय समाज के लिए उपयोगी है।

जनता के साहित्यकार

अंतिम बात यह है कि हमारे प्रेमचंद जी जनता के साहित्यकार हैं। उनके प्रधान उपन्यासों और अधिकांश. कहानियों का विषय उन दीन-हीन, निर्धन, निरीह कृषकों की ग्राम समस्या है जिसका संबंध समाज और राजनीति, दोनों से है। उन्होंने पूँजीपतियों का गुणगान न करके इन दीन दुखियों को अपनाया है। इससे हमें उनकी विशाल हृदयता का पता हो सकता है। जिस दिन हमारे किसान शिक्षित होंगे उसी दिन प्रेमचंदजी का वास्तविक मूल्य हमें मालूम होगा, तभी वास्तव में उनका सम्मान होगा, क्योंकि उन्हें प्रेमचन्दजी की कृतियों में वह चीज मिलेगी जो हिंदू-समाज को तुलसीकृत रामायण में मिलती है।

स्वागत-सम्मान

प्रेमचंद जी की रचनाओं का सारे भारत में प्रचार हुआ है; जनता ने उनका हृदय से स्वागत किया है। हमारे साहित्यिक भी उनका हृदय से सम्मान करते रहे हैं। हिंदी की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं ने उन्हें अपना सभापति तो नहीं बनाया और न उनकी रचनाओं को पुरस्कृत ही किया, फिर भी सभी हिंदी-भाषियों के हृदयों में प्रेमचंदजी ने घर कर लिया है और प्रति दिन उनकी रचनाओं का प्रचार बढ़ता जाता है। उनके 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास पर हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से ५००) का पुरस्कार मिल चुका है।

प्रसिद्ध उपन्यास—'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' 'ग़बन', 'कर्मभूमि', 'गोदान'। कहानी-संग्रह—'प्रेम द्वादशी', 'प्रेम-पूर्णिमा', 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'नवनिधि',

प्रेमचंदजी के ग्रंथ — 'सप्त-सरोज', 'प्रेम-प्रमोद', 'मानसरोवर' (चार भाग) ।

नाटक—'कर्बला', 'संग्राम', 'प्रेम की वेदी' ।

प्रेमचंदजी के विषय के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। कारण, उन्होंने केवल कहानियाँ और उपन्यास ही अधिक लिखे हैं । 'मर्यादा', 'माधुरी', 'हंस' और 'जागरण' के संपादक होकर, उन्होंने जो संपादकीय नोट लिखे थे उनका विषय प्रायः गंभीर है। परन्तु इनके उपन्यासों और कहानियों में भी गंभीर स्थल हैं। अतः शैली में विशेष अंतर नहीं है।

ग्रंथों के विषय

आरम्भ में प्रेमचंद जी उर्दू में लिखते थे और उर्दू के प्रसिद्ध लेखकों में गिने जाते थे। हिंदी में आने पर उर्दू शैली का उनके लिखने के ढंग पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। परन्तु उर्दू शैली से प्रभावित होने पर भी उन्होंने हिंदी-शैली की साहित्यिक विशेषताओं अपनाने का प्रयत्न किया और उसमें सफल भी हुए। फलतः हिंदी की अभिव्यंजन-शक्ति के विकास में उन्होंने भी महत्वपूर्ण योग दिया। कहा जा सकता है कि भाषा की जो विशुद्धता और साहित्यिकता, नवीनता और गंभीरता हमें प्रसाद जी की रचनाओं में मिलती है, वह प्रेमचंद जी की कृतियों में अधिक नहीं; परन्तु मनुष्य जीवन की सरल व्यंजना करने के लिए इन्होंने जिस शैली को अपना, उसमें प्रायः वही विशेषताएँ हैं, जिनके कारण कविवर मैथिलीशरण जी की कविता लोकप्रिय है।

प्रेमचंद जी की शैली

उनकी शैली में प्रायः सर्वत्र एक प्रकार की सरलता है जो पाठकों का चित्त अपनी ओर आकर्षित कर ही लेती है। भावों के आवेश के कारण इस शैली में विशेष सजीवता और बल आ जाता है, परन्तु सरलता वैसी ही बनी रहती है। जहाँ कोमल भावों की व्यंजना है

शैली की सरलता और सजीवता

वहाँ भाषा मधुर और कोमल हो गई है; जहाँ क्रोध, आवेश अथवा किसी प्रकार की उग्रता आदि भाव प्रकट किए गए हैं वहाँ शैली भी उग्र और ओजपूर्ण हो गई है; जहाँ तिरस्कार, अवहेलना अथवा अपमान-सम्बन्धी भाव स्पष्ट किए गए हैं, वहाँ शैली में शब्दों का चयन इस ढंग का मिलता है जिससे घृणा का भाव स्पष्ट हो जाय। नीचे उदाहरण देकर इन बातों को स्पष्ट किया जाता है—

रानी जाह्नवी के हृदय में सोफिया के प्रति स्नेह का संचार होता है, तब वह कहती है—

बेटी, तुम देवी हो, मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था, मैंने तुम्हें पहचाना न था। मुझे सब मालूम है बेटी! सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है, यह मुझे मालूम न था। आह! अगर पहले से जानती।

—रङ्गभूमि पृ० ७४२

ऐसा ही स्नेह बुढ़िया पठानिन के हृदय में भी संचारित होता है और अत्यन्त कृतज्ञ होकर वह कहती है—

मेरा बच्चा इस बुढ़िया के लिए इतना हैरान हो रहा है। इतनी दूर से दौड़ा आया। पढ़ने जाते हो न बेटा, अल्लाह तुम्हें बड़ा दरजा दे।

—कर्मभूमि पृ० ४६

परन्तु जब इन्हीं दोनों स्त्रियों को कारणवश क्रोध आ जाता है तब शैली ओजपूर्ण हो जाती है। उसी सोफिया से रानी जाह्नवी कहती है—

मैं राजपूतनी हूँ, मरना भी जानती हूँ और मारना भी जानती हूँ। इसके पहले कि मैं तुम्हें विनय से पत्र-व्यवहार करते देखूँ, मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगी।

—रङ्गभूमि पृ० १५८

बुढ़िया पठानिन भी क्रोध में आकर उसी अमर से आग भरे शब्दों में कहती है—
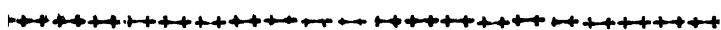
होश में आ छोकरे! बस, अब मुँह न खोलना, चुपचाप चला जा, नहीं आँखें निकलवा लूँगी। तू है किस घमंड में? खबरदार, जो कभी इधर का रुख किया। मुँह में कालिख लगा कर चला जा।

—कर्मभूमि पृ० १७५

इसी प्रकार जहाँ भावों का उद्‌गार हृदय का ज्वालामुखी फाड़कर निकलना चाहता है, वहाँ तो शैली ऐसी ही बलशाली हो गई है, और जहाँ किसी मार्मिक, अथवा सुंदर मनोहारी दृश्य या भाव को स्पष्ट करना होता है, वहाँ शैली में अलंकारों की उन्होंने योजना की है। इससे भी शैली में विशेष सजीवता आ जाती है। उदाहरण के लिए—

शैली की अलंकारिता

(१) गंगाजली ने उन्हें पकड़ने को हाथ फैलाए, पर उसके दोनों हाथ फैले ही रह गए, जैसे किसी गोली खाकर गिरने वाली चिड़िया के दोनों पंख खुले रह जाते हैं।

—सेवासदन पृ० १४

(२) आनंद, महीनों चिंता के बंधन में पड़े रहने के बाद आज जो छूटा तो छूटे हुए बछड़े की भाँति कुलाचें मारने लगा।

—कर्मभूमि पृ० १०४

अलंकारों का यह विधान सुंदर और मार्मिक तो अवश्य होता है, परन्तु जब लेखक इन्हीं के फेर में पड़कर अलंकारों की झड़ी-सी लगाने लगता है तब शैली में स्वाभाविक मार्मिकता नहीं रह जाती; वरन् पाठकों को उससे एक प्रकार की अरुचि-सी हो जाती है। प्रेमचंदजी की रचनाओं में कुछ ऐसे स्थल हैं—

(१) व्याकुल हो गई—जैसे दीपक को देखकर पतंग, वह अधीर हो उठी जैसे खाँड़ की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों की दृष्टि को बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आई—जैसे वेदना-पूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।

(२) जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है, और सुंदर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने
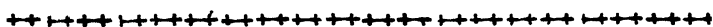
से झोंपड़े में जान आगई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गईं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर आती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह सताई हुई रमणी अब निखर गई है।

—सेवासदन

गद्य-काव्य का एक आनन्द स्कंद

ऊपर के चारों उदाहरण देखकर कह सकते हैं कि उनका अलंकार-विधान—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का आश्रय लेकर विषय को स्पष्ट और सुंदर कर देना—कहीं-कहीं सुंदर प्रभावोत्पादक हो जाता है और लेखक की अभीष्ट सिद्धि में सहायक होता है तो कहीं-कहीं पर अति के कारण अस्वाभाविक और कृत्रिम-सा लगने लगता है। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में गद्यकाव्य-सा आनन्द आता है। ऐसे स्थलों पर भावों की सुकुमारता और मधुरता का मिश्रण पाठकों को मुग्ध कर लेता है। उदाहरण के लिए—

गगन-मंडल में चमकते हुए तारागण व्यंग्य-दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने वृक्षों के कुंज थे, विनय की स्मृतिमूर्ति, श्याम, करुण स्वर की भाँति, कंपित धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम हुई जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है।

—रंगभूमि पृ० ४५६

शैली की आलोचना

अब तक प्रेमचंद जी की शैली के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका सारांश एक आलोचक के शब्दों में यही है कि उसमें सर्वत्र सरलता है। परंतु इनकी भावाभिव्यक्ति की प्रणाली विवरणात्मक भी होती है और संकेतात्मक भी। विवरण जहाँ आवश्यकता से अधिक हो जाते हैं वहाँ कहीं-कहीं, भाव और भाषा के समन्वय में दुर्बलता आजाती है—विवरण मानो अपनी आकार-वृद्धि के लोभ में पड़कर

भाव-विशृंखलता के दोष-जाल में आप ही आप फँस जाते हैं। साधारणतः इनके सभी उपन्यासों में और विशेषतः 'प्रेमाश्रम' में इस प्रकार के विवरणात्मक अंश बहुत हैं जिनके भावों को भाषा-प्रवाह के धक्कों ने छिन्न-भिन्न कर रक्खा है। सच तो यह है कि विवरणात्मक या विश्लेषणात्मक शैली के भीतर इनकी भाषा अपनी वास्तविक गति से काम लेना भूल जाती है। किंतु वही अभिनयात्मक या संकेतात्मक शैली के आश्रय में पहुँच कर अपनी गति-विधि को बड़ी ही सतर्कता और सुंदरता से सम्हालती चलती है। इनकी भाषा शैली का जीता-जागता स्वरूप विशेषकर इनके पात्रों के कथोपकथन में ही देखने को मिलता है। अभिनयात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करके इनकी भाषा बड़ी तत्परता से एक हृदय का भाव दूसरे हृदय तक पहुँचा देती है। उस समय उसका प्रवाह जितना ही प्रखर होता है, उतना ही गंभीर भी। सूरदास के एक ही 'अनमेल कथन' द्वारा, 'थोड़े से शब्दों में' इन्होंने हमारे सारे पारस्परिक, सामाजिक, राजनीतिक, जीवन की विवेचना की है। उसके भीतर इनकी भाषा की भाव-संचारिणी शक्ति का अवलोकन कीजिए—

बस, बस, अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियों को मिलाकर भी नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मारपीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं।

—रंगभूमि पृ० ८९०

इसी प्रकार की सरलता के साथ-साथ उनकी शैली में प्रायः सर्वत्र एक प्रवाह रहता है। शिथिलता का अभाव तो ऐसे स्थलों पर रहना ही है साथ ही सजीवता के कारण एक प्रकार

शैली की प्रभावोत्पादकता की प्रभावोत्पादक मनोहरता आ जाती है।

वाक्य, इस शैली के प्रायः छोटे-छोटे हैं जो 'गंभीर घाव' करते हैं। एक वाक्य दूसरे से निकल कर इस शैली को और भी गठित कर देता है। भाषा तो ऐसे स्थलों की प्रचलित होती ही है। उदाहरण के लिए भारतीय किसान का यह चित्र देखिए—

सीधे-साधे किसान, धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा थो। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चंद्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छिटक जाता तो कुछ न कुछ पैदा हो ही जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई, उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो-ढाई हजार हाथ में आ गए। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी।

कानूनगो इलाके में आते तो सुजान महतो की चौपाल में ठहरते। हल्के के हेड कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा विभाग के अफसर, एक-न-एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग्य! उनके द्वार पर इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो करते जबान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव होजाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाए गए, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जहूरा था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठतले एक बूँद भी जाने की कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग।

—'सुजान भगत' शीर्षक कहानी

इस अवतरण में जैसे मीठे व्यंग्य की पुट है वैसी ही उनकी रचनाओं में कई स्थानों पर मिलती है। यद्यपि उन्होंने सामाजिक

हास्य और व्यंग्य का पुट

बुराइयाँ, राजनीतिक दोष, धार्मिक पाखंड, नैतिक कुरीतियों आदि की व्यंग्यात्मक शैली में विवेचना की है, तथापि उनका व्यंग्य कभी इतना चुटीला नहीं होता जो किसी को कष्ट पहुँचाए, उसमें सर्वत्र एक मिठास रहती है जो मनोरंजन के साथ-साथ हमारी आँखें भी खोलती है। हास्य और व्यंग्य की मिश्रित पुट इस अवतरण को कैसा मार्मिक बना देती है। वकील साहब अपने खर्चे में कमी करने की चिंता में हैं। परेशान-होते-होते एक विचार सूझा कि घोड़े की रातिब में कुछ कमी करदी जाय। इस पर उनकी स्त्री सुभद्रा व्यंग्य करती हुई कहती है—

हाँ, यह दूर की सूझी। घोड़े को रातिब दिया ही क्यों जाय? घास काफी है। यही न होगा, कूल्हे पर हड्डियाँ निकल आवेंगी। किसी तरह मर-जीकर कचहरी तक लेही जायगा। यह तो कोई नहीं कहेगा कि वकील साहब के पास सवारी नहीं है।

—सेवासदन पृ० १६

मुहावरे और सूक्तियाँ

उनकी शैली की अंतिम विशेषता है मुहावरों और सूक्तियों का सुंदर प्रयोग। उर्दू पर पूर्ण अधिकार होने के कारण मुहावरों की झड़ी-सी लगाना तो प्रेमचंद जी के लिए स्वाभाविक ही था और उर्दू-क्षेत्र में आने वाले लेखकों ने ऐसा ही किया भी है; पर चार-पाँच वाक्यों के बीच में एक-आध मर्मभेदिनी और अनुभूतिमूलक सूक्ति जड़ देना उनकी निजी विशेषता है। इन सूक्तियों में 'काव्यगत सौंदर्य भी रहता है और जीवन के गंभीर अनुभव भी भरे रहते हैं।' मुहावरों के उदाहरण यहाँ देने की आवश्यकता नहीं, भारतीय किसान वाले अवतरण में ही उनकी छटा देखी जा सकती है, यहाँ दो-एक सुंदर सूक्तियाँ देख लीजिए—

(१) प्रेम हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका बस नहीं चलता।

(२) प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शांत स्थिर उद्गार-हीन समावेश है।

(३) अनुराग, यौवन या रूप या धन से नहीं उत्पन्न होता। अनुराग, अनुराग से उत्पन्न होता है।

ऐसी सूक्तियों का संकलन करने से एक छोटी-सी पुस्तक तैयार हो सकती है। इस संबंध में इतना और स्मरण रखना चाहिए कि इन सूक्तियों से हमारे जीवन का संबंध है, इनमें जीवन के गंभीर अनुभवों का सार भरा हुआ है और इसीलिए किसी समय इनका उसी प्रकार आदर होगा जिस प्रकार तुलसी आदि कवियों की सूक्तियों का आज हो रहा है।

उर्दू के जो लेखक हिंदी में आ जाते हैं प्रायः उनकी भाषा में एक दोष यह रहता है कि वे अपने साथ उर्दू-भाषा-पन ले आते हैं जो हिंदी में खपता नहीं, खटकता रहता है। ऐसा ही कुछ प्रेमचंदजी की भाषा प्रभाव पद्मसिंह शर्मा की भाषा पर पड़ा है। परंतु प्रेमचंदजी ने उर्दू की उन्हीं बातों को अपनाया जिनकी हिंदी में कमी थी या जो हिंदी में प्रायः खटक नहीं सकती थीं। साथ ही उन्होंने हिंदी की प्रकृति का भी ध्यान रक्खा और उसकी विशेषताएँ भी वे बराबर अपनाते रहे। भाषा-संबंधी प्रेमचंद का यही आदर्श कहा जा सकता है। इसे अपनाने का फल यह हुआ कि उपन्यासक्षेत्र में भाषा-संबंधी जो दोष बाबू देवकीनंदन खत्री की भाषा में रह गए थे उनका प्रेमचंदजी संस्कार भी कर सके और जनता के सामने उसका साहित्यिक तथा परिमार्जित रूप भी रख सके जिसको अपनी रुचि, आदर्श, उद्देश्य, संस्कार आदि के कारण थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके, उनके बाद के अन्य लेखकों ने सहर्ष अपना लिया। भाषा की दृष्टि से उनकी शैली के तीन स्वरूप मिलते हैं।

उर्दू-प्रधान भाषा जिसका प्रयोग प्रायः मुसलमान पात्र के मुख से, या मुसलमानों से बात करते समय किया गया उर्दू-प्रधान भाषा है। इसका नमूना—

मैं खुद अपने दौराने मुलाजिमत में उनकी नकल व हरकत की रिपोर्ट लिखा करता था। मगर मेरे खियाल में किसी जिम्मेदार हिंदू ने गवर्नमेंट के इस तर्जेअमल की मुखालिफत नहीं की हालाँकि मेरी निगाह में सरका, कत्ल वगैरह इतने मकरूह फेल नहीं हैं जितनी असमत फरोशी।

प्रायः इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग 'सेवासदन' में सैयद तेग अली और हकीम शोहरतखाँ तथा 'प्रेमाश्रम' में सैयद इर्फान अली और कहीं-कहीं सैयद ईजाद हुसेन से, कराया गया है। इस संबंध में हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि पात्र के अनुसार कथोपकथन की भाषा में थोड़ा-बहुत अंतर कर देना तो स्वाभाविक है परन्तु इतना नहीं, और इसी से उनकी भाषा का यह रूप उनकी भाषा-शैली में एक दोष ही समझा गया है।

उनकी भाषा का दूसरा रूप वह है जिममें संस्कृत शब्दों की प्रधानता है। ऐसी भाषा का प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थलों पर किया गया है जहाँ कवियों की तरह भावमग्न होकर लेखक अपने विचारों को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए कवित्व-पूर्ण शैली का यह स्थल देखिए-

संस्कृत की प्रधानता

श्यामल क्षितिज के गर्भ से निकलने वाली बाल-ज्योति की भाँति अमरकांत को अपने अंतःकरण की सारी शुद्धता, सारी कलुषता के भीतर, एक प्रकाश-निकला हुआ जान पड़ा, जिसने उसके जीवन को रजत-शोभा प्रदान कर दी। दीपकों के प्रकाश में, संगीत के स्वर में, गगन की तारिकाओं में उसी शिशु की छवि थी, उसी का माधुर्य था, उसी का नृत्य था।

कर्मभूमि पृ० ६४

शुद्ध साहित्यिकता की दृष्टि से गद्य-काव्य का-सा आनन्द देने वाले ऐसे स्थल पाठकों को बहुत प्रिय हैं।

उनकी भाषा का तीसरा रूप वह है जिसमें उक्त दोनों शैलियों का

प्रथम दोनों रूपों का सामंजस्य

सामंजस्य है। यही उनकी शैली का वास्तविक रूप है और इसी में उन्होंने अधिकांश ग्रंथ लिखे हैं। विषय और पात्र के अनुसार भाषा के इस रूप में परिवर्तन हो जाता है, इसकी विवेचना अन्यत्र की जा चुकी है। यहाँ केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार की भाषा में स्वाभाविकता भी है और प्रवाह भी, एक छोटा-सा उदाहरण देखिए—

गाड़ी चलदी, उस वक्त रमा को अपनी दशा पर रोना आ गया। हाय, न जाने उसे कभी लौटना नसीब भी होगा या नहीं। फिर यह सुख के दिन कहाँ मिलेंगे! ये दिन तो गए, हमेशा के लिए गए। इसी तरह सारी दुनिया से मुँह छिपाए, वह एक दिन मर जायगा। कोई उसकी लाश पर आँसू बहाने वाला भी न होगा। घरवाले भी रो-धोकर चुप हो रहेंगे।

—ग़बन पृ० ११५

उनकी भाषा में कहीं-कहीं पर अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। जैसे 'अमृतराम स्पीच सुनने में तल्लीन थे' (प्रतिज्ञा पृ० १)

अँगरेजी के शब्द

'पुलिस के कर्मचारियों के चार्ज में छोड़ दिया' (कर्मभूमि पृ० ३५) 'रटी हुई स्पीच है।' (प्रतिज्ञा) इसी प्रकार गवर्नमेंट, कोर्ट, कैरेक्टर आदि अन्य शब्द भी इनकी भाषा में यत्र-तत्र मिलते हैं, विशेष कर अँगरेजी पढ़े-लिखे पात्रों के कथोपकथन में। जब हम अपनी साधारण बोलचाल में इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग करते हैं तब प्रेमचंदजी का इन शब्दों को अपनाना भी दोष नहीं माना जा सकता; इनके प्रयोग में तो स्वाभाविकता ही समझी जानी चाहिए।

इनकी भाषा में, विशेषकर आरंभिक कृतियों में व्याकरण, विराम-चिह्न, सर्वनाम का प्रयोग आदि से संबंधित कुछ दोष मिलते हैं जिनके

भाषा के दोष

कारण कुछ आलोचक इनसे बहुत नाराज हैं। हमारी सम्मति में, उन दोषों की विवेचना यहाँ न करना ही

अधिक समीचीन है । विद्यार्थी उनकी भाषा की शैलियों और विशेषताओं से परिचित हो जायँ, यही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। फिर, उनकी परवर्ती रचनाओं में वे दोष नहीं मिलते। अतः केवल प्रेमचंद की भाषा का अध्ययन करने वाले व्यक्ति-विशेष के लिए उन दोषों की विवेचना का कुछ महत्व भले ही हो, हिंदी-साहित्य के साधारण विद्यार्थियों के लिए तो कदापि नहीं हो सकता।

———

बाबू जयशंकरप्रसाद

(सन् १८८६—१९३७)

बाबू जयशंकरप्रसाद का जन्म सन् १८८६ में एक प्रतिष्ठित व्यापारी कुल में हुआ था। ये कान्यकुब्ज वैश्य थे। बाल्यकाल में इनकी शिक्षा का कोई परिचय प्रबंध स्कूल में नहीं किया गया; आप ने अपने घर पर ही शिक्षा पाई। विद्याध्ययन से प्रसाद जी को विशेष रुचि थी। अतः शीघ्र ही आप संस्कृत, फारसी, हिंदी और अँगरेजी पढ़ गए। संस्कृत से उन्हें विशेष प्रेम था, और भारतीय संस्कृति के वे बड़े पक्षपाती थे। इसी से, अन्त तक, प्राचीन संस्कृति और साहित्य का आप अध्ययन करते रहे। बँगला भी आप ने सीखी थी। हिंदी से तो आपको स्वाभाविक स्नेह था और अपने व्यापार की थोड़ी-बहुत देख-भाल करते रह कर आप हिंदी-साहित्य की भी अमूल्य सेवा करते रहे थे।

बाबू जयशंकरप्रसाद

प्रसादजी की बहुमुखी प्रतिभा के कारण हिंदी के प्रायः सभी विद्यार्थी उनसे परिचित हैं। उनकी रचनाओं की प्रधान विशेषता उनकी

हिंदी-सेवा रचनाओं में मौलिकता

मौलिकता है। उनके प्रादुर्भाव के समय यद्यपि हिंदी-साहित्य की थोड़ी-बहुत वृद्धि अवश्य हो रही थी तथापि उसमें मौलिकता का अभाव-सा था। उस समय जो साहित्य रचा जा रहा था वस्तुतः वह हिंदी का नहीं था, और न हिंदी वाले कभी उस पर गर्व ही कर सकते थे। अतः इस बात की आवश्यकता थी कि मौलिक रचना की ओर ध्यान दिया जाय। प्रसादजी ने मुख्यतः हिंदी साहित्य के दो प्रधान अंगों—नाटक और कविता—में मौलिकता का समावेश किया। उनका विषय नया था, शैली नई थी, रचनादर्श नया था। प्रसादजी की पहली विशेषता यही है।

कलात्मक चमत्कार की सृष्टि

उनकी दूसरी विशेषता है अपनी कृतियों में एक नवीनता-कथानक में एक विशेष प्रकार का चमत्कार—पैदा कर देना जो पाठकों को ऐसे ढंग से अपनी ओर आकृष्ट करता है कि वह चमत्कृत होकर तो रह जाता है पर उसका कारण नहीं समझ पाता। इस चमत्कार-प्रदर्शन के मूल में वास्तविक ही रहती है जो कल्पना के कलात्मक सहयोग से क्रमशः मार्मिक और प्रभावोत्पादक बन जाती है। प्रसाद जी के नाटकों में नायकों के चरित्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर यह बात हमारी समझ में आजायगी।

सफल नाटकों की रचना

इनके महत्व का तीसरा कारण है, नाटक-साहित्य के रिक्त भंडार को भरना। हिंदी में, उनके पहले, मौलिक नाटक एक-ही-दो लिखे गए थे और उनकी शैली, चरित्र-चित्रण आदि में भी विशेष नवीनता नहीं थी। प्रसादजी ने इस कमी को पूरा किया और कई सुंदर-सुंदर नाटक लिखे। इनके नाटकों के कथानक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय संस्कृति का भी सुंदर दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रसाद जी आधुनिक रहस्यवादी कविता की नवीनधारा के प्रवर्तक
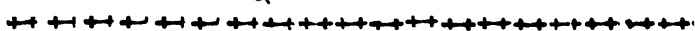
रहस्यवादी कविता के प्रवर्तक

भी माने जा सकते हैं। द्विवेदी-काल के, 'सरस्वती' के कवियों के ढंग पर कविता न करके उन्होंने प्रधानतः यौवन और प्रेम-विषयक बड़ी सुंदर भावात्मक कविताओं की रचना की, जिनके कारण वे विश्व-विद्यालयों के नवयुवक विद्यार्थियों को विशेष प्रिय हैं। रहस्यवादी कवियों में तो उनकी तुलना विश्वविख्यात कवींद्र रवींद्र से की जाती है।

पाँचवीं विशेषता है उनकी साहित्य शैली, जिसके कारण उनकी कहानियाँ भी गद्य-काव्य का सा आनन्द देती हैं।

साहित्यिक शैली-संबंधी दृढ़ता

द्विवेदी जी के सरल-भाषा-प्रचार-सम्बन्धी आंदोलन के बहुत तीव्र होने पर भी वे भाषा के साहित्यिक रूप को ही अपनाए रहे। 'राष्ट्र-भाषा हिंदी हो' कहने वालों के फेर में पड़ कर उन्होंने अपनी भाषा नहीं बिगाड़ी। आज उनकी भाषा का साहित्यिक रूप भी उनके महत्त्व का कारण समझा जाता है।

'प्रसाद'जी के ग्रंथ

'प्रसाद'जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। नाटकों के लिए तो वे प्रतिज्ञा हैं ही; साथ ही उन्होंने कहानी, उपन्यास और काव्यों की रचना भी की है। कुछ निबंध भी उन्होंने लिखे हैं; यद्यपि उनके कारण उनका मान नही है। आपकी प्रसिद्धि तो प्रधानतः इन ग्रंथों के कारण है—

(क) नाटक—'सज्जन', 'अजातशत्रु' 'चंद्रगुप्त' 'स्कंदगुप्त', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी', 'एक घूँट'।

'सज्जन' और 'विशाख' बहुत पहले लिखे गए थे। इनमें कोई विशेषता नहीं है। अन्य अधिकांश नाटक—जैसा नाम से ही स्पष्ट है—ऐतिहासिक हैं जो हमें हिंदू शासकों के स्वर्णकाल, मौर्य और गुप्त सम्राटों के समय की भारतीय संस्कृति का चित्र दिखलाते हैं। इन नाटकों में प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्य शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण

मिलता है, पात्रों का चरित्र-चित्रण भी प्रसाद जी ने सुंदर ढंग से किया है।

(ख) काव्य—'करुणालय', 'प्रेमपथिक'—१९१३, 'कानन-कुसुम' १९१८, 'झरना', 'लहर', 'कामायनी', 'आँसू'।

पहली पुस्तक अतुकांत गीतिनाट्य है और दूसरी अतुकांत प्रेम-काव्य। ये दोनों प्रसादपूर्ण और सरल हैं। इस समय वे ब्रजभाषा में लिखा करते थे, परन्तु बाद में, संभवतः द्विवेदीजी के आंदोलन से प्रभावित होकर, उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। इनकी रचनाओं का प्रधान विषय प्रेम है जो वासना-प्रधान होने पर भी 'लोकोत्तर-प्रेमालंबन की ओर उन्मुख होने लगता है।' इनकी भावात्मक कविताएँ बड़ी सुंदर हैं।

(ग) कहानी-संग्रह—'छाया', 'प्रतिध्वनि' 'नवपल्लव', 'आँधी', 'आकाशदीप'।

'ग्राम' प्रसादजी की पहली मौलिक कहानी है जो सन् १९११ में 'इंदु' (काशी) में प्रकाशित हुई थी और 'छाया' उनकी प्रारंभिक कहानियों का पहला संग्रह। उनकी कहानियों का कथानक भी, कविताओं की तरह ही, सामाजिक या राजनीतिक नहीं है, वरन् उनमें 'एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र अथवा घटना की एक रेखा', प्रेम की एक झलक, निष्ठुरता की ओर एक संकेत मात्र रहता है। 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली' 'प्रतिध्वनि' आदि उनकी प्रथम श्रेणी की कहानियाँ हैं।

(घ) उपन्यास—'कंकाल' और 'तितली'।

यद्यपि प्रसादजी ने केवल ये दो ही उपन्यास लिखे हैं तथापि उपन्यास-लेखकों में उनका नाम आदर से लिया जाता है। सामाजिक होते हुए भी ये उनकी कहानियों की तरह ही भाव-प्रधान हैं।

प्रसादजी ने गद्य में नाटक, उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं जिनका मुख्य उद्देश्य, जनसाधारण की दृष्टि में मनोरंजन करना ही

होता है। परन्तु, वास्तव में, ये रचनाएँ केवल मनोरंजन और विनोद की दृष्टि से न लिखी जाकर, अध्ययन के लिए लिखी गई थीं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में संघर्ष के चित्रों के साथ-साथ, गवेषणात्मक और भावात्मक स्थल भी हैं। इसका कारण यह है कि अपने नाटकों के लिए प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना है जो गंभीर और उनके प्रादुर्भाव के समय तक कुछ अनिश्चित-सा था। इसके अतिरिक्त नाटकों में घात-प्रतिघात तथा अंतर्द्वंद्व के लिए विस्तृत क्षेत्र भी उन्हें मिल जाता है। यदि उनके नाटक घटना-प्रधान होते तब अंतर्द्वंद्व-संबंधी दुरूहता, जो साहित्यिक दृष्टि से नाटकों की प्रधान विशेषता है, उनकी शैली पर विशेष प्रभाव न डालती, परंतु ऐसे द्वंद्व की प्रधानता होने के कारण ही शैली गूढ़ और गंभीर हो गई है।

ग्रंथों के विषय

यह तो हुई साधारण विषय-संबंधी बात। लेखक की शैली पर उसकी रुचि विशेष का प्रभाव भी पड़ता है। अन्य लेखकों की अपेक्षा प्रसादजी के लिए यह बात अधिक सत्य है। उनकी शैली पर उनके गहरे दार्शनिक विचारों—जैसे नियतिवाद, आध्यात्मिक विवेचना आदि का—प्रभाव तो एक ओर पड़ा है जिससे शैली में गूढ़ता तथा गंभीरता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है, और दूसरी ओर, उनके कवि-हृदय की सहज भावुकता की पुट दिखाई देती है जिससे अंतर्द्वंद्व में विशेष चमत्कार आ जाता है। ये बातें कहानियों और उपन्यासों के लिए भी प्रायः सत्य ही हैं। इन्हें समझ लेने पर हम प्रसादजी की भाषा-शैली को भली-भाँति समझ सकेंगे।

साहित्यिक रुचि का प्रभाव

प्रसादजी पहले कवि हैं पीछे और कुछ। यही कारण है कि उनकी समस्त कृतियों में काव्यात्मक चमत्कार वर्तमान है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए बड़ी सुंदर उक्तियों का संग्रह करते वे दिखाई देते हैं।

'प्रसाद'जी की शैली काव्यात्मक चमत्कार

ऐसा करने से वर्णन में एक विशेष प्रकार की रोचकता आ जाती है। उदाहरण के लिए—

प्रणय-वंचिता स्त्रियां अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार होती है।

यह चमत्कार प्रसादजी की रचनाओं में प्रायः सर्वत्र मिलता है; छोटी-छोटी कहानियों में भी एक-आध स्थल पर ऐसे वाक्य देखने को मिलते हैं, फिर नाटकों का तो कहना ही क्या। वास्तव में जहाँ लेखक स्वयं ही पाठकों का दुख-सुख अपना लेता है वहीं अपनी भावुकता से ऐसी उक्तियाँ सोच सकता है। इन उक्तियों में साम्य और चमत्कार तो होता ही है, साथ एक प्रवाह भी रहता है। इसका संबंध पात्र के हृदय में उत्पन्न दुख, क्षोभ, ग्लानि, हर्ष आदि मनोभावों की मात्रा के अनुरूप होता है। ज्यों-ज्यों अंतस्थल की सूक्ष्म भावनाएँ आवेश, क्रोध आदि में परिणत होती जाती हैं त्यों-त्यों प्रसादजी कुशलतापूर्वक उनका चित्र खींचते हैं। ऐसे स्थलों पर भाव-प्रकाशन-शैली बहुत ही स्वाभाविक है; वाक्य छोटे-छोटे हैं, भाषा में सहज प्रवाह भी है। प्रायः अंतर्द्वंद्व प्रधान नाटकों में ऐसे स्थल बहुत अधिक रहते हैं, अतः भावात्मक शैली के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। दो-एक नमूने देखकर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

रचनाओं के भावात्मक स्थल

(१) माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ। उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं न जी सकूँगा। मैं आत्मघात कर लूँगा।

(२) सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिंता नहीं, एक बार इन दस्युओं को बतला देना होगा कि भारतीय

लड़ना भी जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह बज्र बरसें, सारी गजसेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परंतु एक पग भी हटना पर्वतेश्वर के लिए असंभव है। धर्म युद्ध में प्राण-भिक्षा माँगने वाले भिखारी हम नहीं। जाओ, उन भगोड़ों से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने को कहो। कहो कि मरने का क्षण एक ही है, जाओ।

भावात्मक शैली का दूसरा उदाहरण

ऊपर की पंक्तियों का भावावेश स्पष्ट ही है। दूसरे अवतरण में रणभूमि में मर मिटने को ही जीवन का उद्देश्य समझने वाले भारतीय वीर के वीरतापूर्ण भावोद्गारों का बड़ा सुंदर और स्वाभाविक वर्णन किया गया है। भाषा का धारावाहिक रूप और छोटे-छोटे वाक्य, इस शैली की विशेषताएँ हैं। निम्नलिखित अवतरण में भी वाक्यों की गठन और धारा का सुंदर प्रवाह देखते ही बनता है—

(आप ही आप) बुलाओ, बुलाओ, उस वसन्त को, उस जंगली वसन्त को, जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो भन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूलि में मकरंद सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलाओ, जो पतझड़ कर नई कोपल लाता है, जो हमारे कई जन्मो की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांति जगत में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की तरह सस्नेह रुक-रुक कर आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है। एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है। उस वसन्त को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेलें। विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग विस्मृति को भुला दे; सबमें समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रंदन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम

के बौरों में से मकरंद-मदिरा पान करके आया हुआ पवन सबके तप्त अंगों को शीतल करे।

एक स्थान पर कहा जा चुका है कि लेखक की रुचि का उसकी शैली पर बड़ा प्रभाव है। प्रसादजी के विषय में भी यह बात पूर्ण सत्य है। दार्शनिक, आध्यात्मिक, आदि विषयों से उन्हें रुचि थी। अतः उनकी शैली प्रधानतः इन विषयों के अनुकूल हुई है। इसी प्रकार प्रसादजी के नाटकों में हम देश-प्रेम की पवित्र भावना अधिक देखते हैं। इसका एक कारण उस समय की ऐतिहासिक परिस्थिति है जिस समय के कथानकों को उन्होंने अपनाया था। भारत पर तब विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे। ये आक्रमणकारी भारतीय प्रजा पर अमानुषीय-अत्याचार करते थे। अतः देश-प्रेमियों की सृष्टि करना नाटककार के लिये स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह है कि ऐसे देशोद्धारक या समाजसुधारक प्रायः कर्मवीर होते हैं, और कर्म की महत्ता का प्रचार भी करते हैं। यही बात कमला के इन शब्दों से स्पष्ट होती है—

'प्रसाद'जी की रुचि का शैली पर प्रभाव

कौन कहता है तुम अकेले हो! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो! यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन समीप ही है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है। उठो, स्कंद! आसुरी वृत्तियों का नाश करो; सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ! आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। उठो वीर।

—'स्कंदगुप्त' से

इस अवतरण में हमें उनकी ओजपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं जिसमें बड़ा सुन्दर प्रवाह है और वाक्य भी छोटे-छोटे हैं परिस्थिति के अनुकूल ऐसी शैली बना लेना वास्तव में, लेखक की कुशलता का द्योतक है।

उनकी शैली की दूसरी विशेषता के संबंध में एक आलोचक का कथन है, 'वे प्रकृति के रमणीय उपादानों से अपरिवेष्टित मनुष्यता की ओर दृष्टि भी नहीं डालते। उनकी सृष्टि के नर-नारी प्रकृति से लिपटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं और प्रकृति की उन स्थितियों का वर्णन भी ऐसा सार्थक होता है कि यदि वह शीतल पवन के झोंके का वर्णन करेंगे तो उनकी समर्थ पदावली हमें उस पवन का स्पर्श भी करने में सहायता देगी। शब्दों के द्वारा परिस्थितियों की विशेषता उत्पन्न करने की इतनी अपूर्व क्षमता कम लेखकों में होती है।' इन विशेषताओं को इस उद्धरण में कुछ-कुछ देखा जा सकता है :—

प्रकृति का विशेषता-युक्त वर्णन

साधुओं का भजन-कोलाहल-शांत हो गया था। निस्तब्धता रजनी के मधुर क्रोड़ में जाग रही थी। निशीथ के नक्षत्र, गंगा के मुकुर में अपना प्रतिबिंब देख रहे थे। शीतल पवन का झोंका सबको आलिंगन करता हुआ विरक्त के समान भाग रहा था। महात्मा के हृदय में हलचल थी, वह निष्पाप हृदय ब्रह्मचारी दुश्चिंता से मलीन, शिविर छोड़ कर कंबल डाले, बहुत दूर गंगा की जलधारा के समीप खड़ा होकर अपने चिर संचित पुण्यों को पुकारने लगा।

शब्दों के द्वारा चित्र अंकित करने की शक्ति भी प्रसादजी में अद्‌भुत थी। दृश्यों की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखाओं को पाठक देख सकते हैं। उन चित्रों के रंग इतने पारदर्शक होते हैं कि उस व्यक्ति के हृदय को भी हम स्पष्ट देख सकते हैं। एक उदाहरण—

रचनाओं में शब्द चित्र

घंटी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली-मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयःसंधि से उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाई लेती तो कभी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके पलकों की आड़ में छिप जातीं तब भी भौंहें चला करतीं। तिस पर भी घंटी एक बाल-विधवा है।

नाटकीय कथोपकथन

प्रसादजी कुशल नाटककार थे। अतः अपने पाठकों का चित्त कथानक की ओर आकर्षित करने के लिए उन्होंने 'प्रभावात्मक समारंभ का आयोजन' किया है। इस संबंध में एक अन्य आलोचक का कथन है कि इससे इधर-उधर अव्यवस्थित चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चमत्कारवाद में विशेषता यह रहती है कि लेखक सदैव वास्तविक की ओर झुका रहता है। इस सुझाव का प्रभाव उसके कथोपकथन के वाक्य-विन्यास पर स्पष्ट दिखाई देता है। साधारणतः नित्य के व्यवहार में हम जिस प्रकार वाक्यों का उपयोग करते हैं अथवा बातचीत की झोंक में जिस भाँति हम वाक्यों की बनावट में उलट फेर कर देते हैं उसी प्रकार 'प्रसादजी' अथवा इस दल के सभी लेखक वास्तविकता का शुद्ध आभास देने के विचार से प्रायः वाक्यों की व्याकरण-सम्मत बनावट में उलट फेर कर देते हैं। जैसे—'दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा अलौकिक एक वरुण-बालिका!' 'चलोगी चंपा! पोत-वाहिनी पर असंख्य धन-राशि लाद कर राजरानी-जन्मभूमि के अंक में?' 'प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।' 'इतने में ध्यान आया, उस धीवर बालिका का।' इस प्रकार का नाट्यात्मक कथोपकथन स्थान-स्थान पर उनकी छोटी-छोटी कहानियों में भी रहता है। यह उनकी शैली की तीसरी विशेषता है।

कहीं-कहीं पर प्रसादजी की रचनाओं में सुंदर व्यंग्य भी मिलता
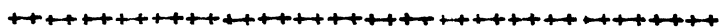
है जो विशेष चुटीला और मार्मिक न होकर

व्यंग्यात्मक शैली

सरल और मीठा है। एक अवतरण देखिए—

मुकुल—महोदय, आपका यह हल्के जोगिया रंग का कुरता जैसे आपके सुंदर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है वैसे ही आपको दुख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफली वाले का एक रुपये की पूँजी का खोंमचा लड़कों ने उछल-कूदकर गिरा दिया और लूटकर खा भी गए। उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलकें पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

—एक घूँट

इस शैली का चुटकी लेता हुआ व्यंग्य उनकी शैली की चौथी विशेषता कही जा सकती है।

प्रसादजी की भाषा में मुहावरों का प्रयोग कम है। कारण, मुहावरों का प्रयोग प्रायः उर्दू में लिखने वाले लेखकों ने ही अधिकांश में किया—दो-एक लेखक इसके अपवाद भी हैं।

मुहावरों का अभाव

प्रसादजी को उर्दू की चुलबुलाहट पसंद ही नहीं थी। परंतु, मुहावरों के अभाव से भाषा में जो शुष्कता, या लचरपन आ जाता है वह उनकी रचनाओं में नहीं मिलता। अतः उन्हें मुहावरों या कहावतों के झंझट में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई।

आरंभ में प्रसादजी की रचनाओं की भाषा प्रायः सरल थी; परंतु ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन बढ़ता गया त्यों-त्यों उनकी भाषा भी क्लिष्ट होती गई। वास्तव में मनोभावों की स्पष्टता और गंभीर विषयों की विवेचना का प्रयत्न जब किया जाता है तब भाषा क्लिष्ट हो ही जाती है। यही कारण है कि प्रसादजी की

'प्रसाद'जी की भाषा दो रूप

भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है और अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। इसके विपरीत, जहाँ लेखक ने साधारण भाव-प्रभाव के अनुकूल भाषा लिखी है, वहाँ संस्कृत की तत्समता अधिक नहीं है। अस्तु, संक्षेप में, प्रसादजी की भाषा मुख्यत: दो प्रकार की है :—

(१) संस्कृत प्रधान—इस प्रकार की भाषा विशेष स्थलों पर ही मिलती है जहाँ मनोभावों का द्वंद चित्रित करते-करते लेखक स्वयं भावमय हो जाता है। तल्लीनता की इस अवस्था में प्रसादजी की भाषा तत्सम-शब्दावली से युक्त है।

(२) व्यावहारिक भाषा—जिसमें अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का अभाव तो अवश्य है परंतु संस्कृत की प्रधानता अखरती नहीं। इस भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों के कारण बड़ा प्रवाह और रस है। इसका प्रयोग उनके पात्रों ने या तो भावावेश में किया है या प्रसादजी ने स्वयं सरस स्थलों पर। उदाहरण के लिए—

परंतु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास वही निष्ठुर प्रतिबिंब, तुम्हारे मुख पर भी है। सैनिक ! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ, कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।

'गला सूख रहा है, साथी छूट गए हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ।' इतना कहते-कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्मांड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई। उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई—यह सोचने लगी—'सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का बध करने वाले आततायी।' घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

ममता ने मन में कहा—यहाँ कौन दुर्ग है। यह झोंपड़ी न, जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा। वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—'जाओ भीतर थके हुए पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें तो मैं भी क्यों छोड़ दूं ?' मुगल ने चंद्रमा के मंद प्रकाश

में वह महिमामय मुख-मंडल देखा; उसने मन ही मन नमस्कार किया।

—'ममता' शीर्षक कहानी

यह अवतरण दूसरे प्रकार की भाषा का उदाहरण है। इसमें उर्दू के शब्दों का प्रयोग तो नहीं है फिर भी भाषा सरल और प्रचलित ही है। प्रसाद जी की भाषा पर जब बार-बार क्लिष्टता का दोषारोपण किया गया, तब वे कुछ सरल भाषा लिखने लगे। प्रारंभिक कहानियों और नाटकों की तथा 'कंकाल' उपन्यास की भाषा का अंतर हमारे इस कथन की पुष्टि करता है—'तितली' की भाषा तो और भी व्यावहारिक और सरल है।

भाषा में परिवर्तन

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि दार्शनिक विवेचना, आध्यात्मिक स्पष्टता और मनोभावों की व्यंजना के कारण प्रसादजी की संस्कृत-शब्दावली-प्रधान भाषा विषय के अनुकूल ही है तथापि उपन्यासों, नाटकों और कहानियों के सभी पात्रों का एक ही सी परिष्कृत, अलंकृत और सुसंगठित भाषा में बात करना नाटकीय कथोपकथन की दृष्टि से अस्वाभाविक लगता है। इधर हिंदी के विद्यार्थियों की रुचि का परिष्कार हो रहा है। फलतः प्रसादजी की शुद्ध साहित्यिक भाषा की एकरूपता से अभ्यस्त शिक्षित पाठकों को उसमें विशेष रस मिलता है और इसलिए उनकी इस भाषा-शैली के प्रशंसकों की भी अब कमी नहीं है।

संस्कृत की तत्समतायुक्त भाषा

———

बाबू राय कृष्णदास

परिचय

बाबू रायकृष्णदास जी का जन्म सन् १८९२ में एक प्रतिष्ठित अग्रवाल वैश्य के यहाँ हुआ था। इनके पिता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के भाई—उनकी बुआ के पुत्र—थे। जब यह केवल १२ वर्ष के थे तभी इनके पिता स्वर्गवासी हो गये थे। साहित्य-सेवा करने योग्य साहित्यिक प्रतिभा का परिचय इन्होंने बाल्यावस्था में ही दे दिया था। ९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने कविता करनी आरम्भ कर दी थी। इस क्षेत्र में इनके पथप्रदर्शक बाबू मैथिली शरण जी गुप्त माने जाते हैं। १५ वर्ष की छोटी अवस्था में इन्होंने 'दुलारे रामचन्द्र' नामक एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया, जो पूरा न हो सका। कवीन्द्र-रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के प्रकाशन के उपरान्त इन्होंने उसी ढङ्ग की एक स्वतन्त्र गद्य-कृति 'साधना' नाम से लिखी। कविताओं और गद्य-गीतों के अतिरिक्त सन् १९१७ से आपने कहानियों लिखने की ओर ध्यान दिया है। इस क्षेत्र में भी बँगला का प्रभाव स्पष्ट है।

बाबू राय कृष्णदास

राय साहब का क्षेत्र वास्तव मे साहित्य न होकर भारतीय कला है। वे कला-कोविद हैं और इस क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य-सेवियों में अद्वि-

हिन्दी-सेवा

तीय हैं। इस क्षेत्र में भारतीय-कला की रक्षा का स्तुत्य प्रयत्न उन्होंने किया है। सन् १९२० में उन्होंने एक 'कला-परिषद्' की स्थापना की थी। समय-समय पर ये कला-कृतियों का संग्रह करते रहे। आज उनका यही संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का एक अंग है।

यों तो 'भारतीय-कला-भवन' का उन्नयन ही उनके जीवन का प्रमुख ध्येय है, उनके साथ आपका साहित्यिक जीवन इस प्रकार संबद्ध हो गया है कि उससे पृथक आपके लेखन-कार्य का अस्तित्व हमारे सामने बहुत कम रह गया है, तथापि साहित्यिक क्षेत्र में भी आपने अपने पर्याप्त कृतित्व का परिचय दिया है।' उनकी हिन्दी-सेवा कई भागों में झुकी हुई है। कविता, गद्यकाव्य और कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं। कविता की दृष्टि से तो नहीं, गद्यकाव्य और कहानी लेखक की दृष्टि से उनका नाम अवश्य बड़े आदर से लिया जाता है। 'पहले क्षेत्र में होने वाली प्रसिद्धि का प्रधान कारण 'रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता' और भावात्मक स्पष्टता है जो पाठक के चित्त को लोकोत्तर आनन्द में मग्न कर देती हैं और दूसरे—कहानी-क्षेत्र—में विषय और भावाभिव्यंजन-शैली की नवीनता मर्मस्थल पर चोट करती है। उनकी कुछ कहानियाँ मनोवृत्ति-मूलक तथा भावात्मक हैं और कुछ घटनात्मक। पहले प्रकार की कहानियों में घटनाओं का एक प्रकार से अभाव ही है। फिर भी 'आपकी कृतियों में काव्य-कला, चित्रकला तथा उपन्यास-कला का अच्छा सम्मिश्रण रहता है। पात्रों की मानसिक स्थितियों का चित्रण करके ही आप संतुष्ट नहीं हो जाते, उनकी वाह्य रूपरेखा पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हैं।' यही उनकी प्रधानता है।

उनके ग्रन्थ

(क) गद्यगीत-संग्रह—'साधना' (सुकुमार भक्तिपूर्ण उद्गार जिनमें रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता है) 'छायापथ', (भावनाओं के रूप में पूर्व स्मृतियाँ), 'प्रवाल' (वात्सल्य-रस-पूर्ण क्रीड़ाकलाओं का वर्णन), 'पगला' (अनुवादित)
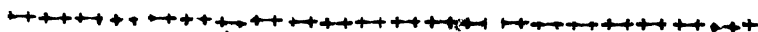
(ख) कविता—'भावुक' नामक कविता-संग्रह में उनकी कुछ मनोहर रचनाएँ संगृहीत हैं।

(ग) कहानी-संग्रह—'अनाख्या' (घटनात्मक कहानियों का संग्रह जिसमें चित्रों का सुन्दर चित्रण किया गया है), 'सुधांशु' (भावात्मक मनोवृत्ति मूलक कहानियाँ जिनमें घटनाओं का अभाव-सा है), 'आँखों की थाह' (नवीन कहानियों का संग्रह)।

एक ओर तो रायसाहब की रचनाएँ भावात्मक हैं और दूसरी ओर इनकी रुचि कला की ओर झुकी हुई है और कला को ये उपादेयता की वस्तु नहीं समझते। इनकी सम्मति में, कला की सार्थकता इसमें नहीं है कि उसकी रचना किसी उद्देश्य-विशेष से की जाय। वास्तव में उस का उद्देश्य इतना ही है कि उसके निरीक्षण मात्र से आनन्द मिले।

ग्रन्थों के विषय

साहित्य क्षेत्र में भी कला-विषयक उनका ऐसा ही आदर्श रहा है। यद्यपि इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार के कथानक लेकर अपनी कहानियाँ लिखी हैं तथापि उनमें कथा को—और उतनी ही कथा को अपनाया है, जिससे कथानक सरल होकर भाव-स्पष्टता और रस के उद्रेक में सहायक हो सके। उसके अधिकांश पात्र इस भौतिक जगत के साधारण प्राणी न होकर कला-जगत के भावुक और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति हैं जिनके चित्रण में, अनभिज्ञता के कारण पाठकों को कहीं-कहीं पर अस्वाभाविकता-सी दिखाई पड़ेगी। फिर, गद्यगीत तो 'छोटे छोटे एवं भावानुभूतिमय क्षणों के बिन्दु-चिह्न होते ही हैं'; उनकी कल्पना और भावुकता के विषय में कहने की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

रायसाहब ने, यह कहा जा सकता है कि, एक ही शैली में अपनी कहानियाँ और गद्यकाव्य लिखे हैं—वस्तुतः उनकी कहानियाँ गद्य-काव्य का-सा आनन्द देती हैं। परन्तु गद्य-काव्य के प्रलोभन को रोक न सकने के कारण संस्कृत की 'कादम्बरी' की

उनकी शैली
गद्यकाव्य की भाव प्रधानता
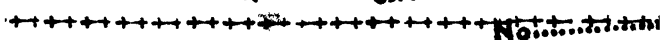
शैली अपनाकर जो लेखक हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की समासांत पदावली भर देते हैं, उनका अनुकरण राय साहब ने नहीं किया। कहा जायगा कि आगे के गद्य-काव्य के अनेक लेखकों ने उनका ही ढंग अपनाया है। कारण यह है कि भावुकता-प्रधान होने पर भी उनकी शैली में कहीं अस्पष्टता नहीं है, संस्कृत की तत्समता में उनके आध्यात्मिक विचार पाठकों की बुद्धि के लिए 'अजेय दुर्ग' नहीं बन गए हैं। उनकी 'सुरम्यवाटिका के कमनीय सुमनों के चयन' करने का सभी को अधिकार है। उदाहरण के लिए उनका 'निर्गुण वीणा' शीर्षक गद्य-गीत देखिए—

अनन्त काल से तुम्हारे बजाते रहने से इस वीणा के गुण ढीले पड़ गए हैं। सो अब यह बेसुरी बजती है और उल्टा तुम्हारे बजाने की योग्यता पर संशय करती है।

प्रभो, इसके गुणों को कस दो, जिसमें यह सुर में बजें और झूठा संशय जाता रहे।

नहीं, नहीं, ऐसा न करना, इसके गुणों को दूर बहाओ, जिसमें उनके ढोले पड़ने का प्रपंच एवं इसके मिथ्या संशय का कारण जाता रहे और, यह निर्गुण भाव से नीरव लय का नित्य विस्तार करे और कृतकृत्य हो।

—साधना पृ० ८

कितना सुन्दर भाव कितने सीधे-सादे शब्दों में व्यक्त किया गया है! हमारी इस जीवन वीणा का निर्माण तो वास्तव में निर्विकार तत्वों से हुआ था, परन्तु आज इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के विविध विकारों या प्रलोभनों के प्रभाव-स्वरूप वह शिथिल-सी हो गई है कि हमें इस वीणा के सर्व-शक्तिमान् निर्माण-कर्ता के अस्तित्व में भी सन्देह होने लगा है।

यही शैली रायकृष्णदासजी की प्रमुख शैली मानी जा सकती है। वाक्य इसमें छोटे-छोटे और भावपूर्ण है तथा शब्दों से संकेतमात्र किया

प्रकृति वर्णन की प्रणाली

गया है । स्थान-स्थान पर यह पदावली भाव की सरलता के अनुरूप मधुर हो गई है । जान पड़ता है, कवि शिशु-सा भोला बन कर प्रकृति के प्रांगण में घूम-घूम कर एक-एक मनोहर वस्तु की ओर चकित भाव से देख, उसका रहस्य जानने की जिज्ञासा कर रहा है । प्रकृति के रमणीक दृश्यों के प्रति इसी स्नेहपूर्ण जिज्ञासा का यह प्रभाव है कि उनके प्रकृति-वर्णन बड़े सुन्दर हुए हैं । दो एक दृश्य देख लीजिये—

-(१) सारा कानन चित्र-विचित्र कुसुम और पल्लवों से सज उठा है । हुलसी भ्रमरावली फूल-डोल पर पेंगे ले रही है । सुमन उसके कपोलों पर पराग का गुलाल पोत रहे हैं, मधु पिला रहे हैं, वह छक कर मौज के गीत गा रही है । पल्लव करताल दे रहे हैं । भावुक चपल पवन लतिकाओं से छेड़-छाड़ कर रहा है, उन्हें गुदगुदा रहा है, झक-झोर रहा है । वे खिलकर हँस के फूलों की झड़ी लगा रही हैं ।

(२) भादों की अँधेरी रात है । काले-काले बादलों ने आकाश को आच्छादित कर लिया है । वे मानों अन्धकार में मार्ग न पाने से कहीं अटक गए हैं । बिजली तक का कहीं पता नहीं । क्या वह इन काले बादलों में ठण्डी पड़ गई है या अंधकार के मारे चंचला चपला को भी घन-पटल से निकलने का साहस नहीं ?

साधना पृ० ४०

अपने 'प्रकृति और कला' शीर्षक गद्यगीत (साधना पृ० २०) में उन्होंने लिखा है—

मैंने तुम्हें अपनी प्रकृति अर्पित करदी है । तो भी मैं तुम्हारे पास अपने प्राकृतिक रूप में नहीं आता । मैं सजकर तुम्हारे पास आता हूँ । क्या लोक-लज्जा से ? नहीं । कला के सहारे मैं तुम्हें और भी मोहित करना चाहता हूँ ।

परिणाम उलटा होता है। तुम मेरी ओर से तो ध्यान नहीं देते, उसी के देखने में लीन हो जाते हो और उसी की आलोचना में समय बीत जाता है।

हे प्रियतम, अब मुझे अपना मिथ्या विश्वास मालूम हो गया। अब मैं तुम्हारे पास निसज्ज होकर आऊंगा। तुम मेरा प्रकृत रूप देखो और उसी की आलोचना करो।

उनके इस कथन को यदि हम ध्यान में रक्खें तो हमें उक्त सरलता और स्पष्टता के रहस्य का ज्ञान अवश्य हो जायगा, यद्यपि उनकी कृतियों में सर्वत्र ऐसी सरलता नहीं दिखाई देती। उनके कथन का एक चमत्कार-पूर्ण ढंग और है जिसमें वे एक बात को सीधे-सादे ढंग से न कह कर अलंकारिक रूप देते हैं। 'सायं-काल का समय था' न कहकर वे कहते हैं—'दिनमणि अपने करों से स्निग्ध कोपलों को लाखों रत्नों से आभूषित कर रहा था।' (छायापथ पृ० ४०)। इसी भाँति, 'क्रमशः सन्ध्या हुई और सूर्य उससे सानुराग विदा हुए, के साथ-साथ वे यह भी कहते हैं—'प्रतीची ने स्वर्ण और नीलिमा के धूप-छाह का उत्तरीय ओढ़ा।' (छायापथ पृ० ४०) एक आलोचक के शब्दों में, जान पड़ता है कि सांसारिक घटनाओं में ये अपने पाठकों को नहीं पड़े रहने देना चाहते। उन्हें वे कल्पना की स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराना चाहते हैं—'कल्पना का लोक' जो ब्रह्मलोक से भी ऊपर है। यही कारण है कि दीप्तिमान नीली यवनिका के आगे सहज सस्मित भगवान् अमिताभ के दर्शन मिलने पर लौकिक प्रसन्नता को काम नहीं रह जाता। यही कारण है कि उनकी 'आशा' भी रूपात्मक सत्ता धारण कर 'लावण्यवती' बन जाती है, अतीत वर्तमान बन कर उनके सामने अभिनय करने लगता है। उनकी आँखों से आँसू नहीं वरन् 'ममता की दो बूँद' टपक पड़ती हैं।

शैली में अलंकारिक चमत्कार

उनकी शैली में दो विशेषताएँ और हैं। पहली बात है अलंकारों

अलंकारों के प्रयोग की प्रथम विशेषता
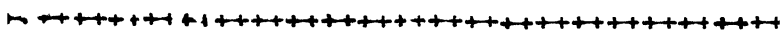
का इस सुन्दर ढंग से प्रयोग करना जिससे भावों में विशदता और स्पष्टता तो अवश्य आ जाय परन्तु दुरूहता या क्लिष्टता न आने पाए। दो-एक उदाहरण देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) जिस प्रकार सूक्ष्मवीक्षण यंत्र में देखने से दृश्य-वस्तु और ही रूप में दीख पड़ती है उसी प्रकार प्रेम की दिव्य दृष्टि से ये सब पदार्थ स्वर्गीय रूप में दिखाई देते हैं।

(२) तुम्हारे पाद-पल्लव के स्पर्श से मेरा मन-अशोक लदबदा कर फूल उठता है और उसके बोझ से नत होकर आनंदामोद बगारने लगता है। —साधना पृ० १६

(३) खेतिहर अपने आमोद में मग्न थे—चरै हरित तृन बलि-पशु जैसे। 'बीज की बात' (कहानी)

(४) महारानी उसी शकल में धड़धड़ाती हुई राजसभा में उतर आई—पहाड़ी प्रवाह के वेग में दौड़नेवाली शिला की तरह।—सुधांशु

(५) जिस प्रकार हाथी की अवस्था के साथ उसके शरीर पर शोण-बिंदु बढ़ते जाते हैं, उसी भाँति ज्यों-ज्यों रात बढ़ने लगी त्यों-त्यों अखिल आकाश पर तारों की संख्या भी बढ़ रही थी।

—छायापथ पृ० ४०

दूसरी विशेषता

दूसरी विशेषता है भावोद्वेग में वाक्य विन्यास में उलट-फेर कर देना। प्रायः ऐसा करने से वाक्य बड़े प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। 'प्रसाद' जी तथा अन्य कलाकारों की रचनाओं में भी यही बात मिलती है। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) उत्कट इच्छा होती है वहाँ चलने की।

(२) यों वह अनन्त विभूति दिखलाता है, पर रहता है वह ज्यों का त्यों निर्लिप्त।

—छायापथ पृ० ७१

रायसाहब ने रहस्योन्मुख- आध्यात्मिकता-सम्बन्धी गद्य-गीत भी लिखे हैं। ईश्वर के प्रति मनुष्य के जो विचार उसके सरल और संस्कृत हृदय में उदय होते हैं उन्हीं का गान उन्होंने किया है। पदावली की मधुरता और शैली के संयत प्रवाह के कारण ये गीत और भी मार्मिक हो गए हैं। यही उनके गद्य-गीतों की लोकप्रियता का प्रधान कारण है।

उनकी भाषा—विदेशी और प्रांतीय शब्द

यद्यपि उनकी कृतियों में कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ही अधिक किया गया है, तथापि उनकी भाषा शुद्ध और प्रचलित हिंदी ही है, जिसमें उर्दू के व्यावहारिक शब्दों का बहिष्कार भी नहीं किया गया है और न संस्कृत शब्दों को प्रश्रय ही दिया गया है। 'हमसाया', 'ताज्जुब', 'कहर', 'कब्जा', 'मुखालिफाना', 'इत्तला', 'खैर', "दुरुस्त", जरा-जरा", आदि उर्दू के शब्द तो उनकी भाषा में एक तरफ मिलते हैं और दूसरी तरफ 'ढकोशला', 'कुण्डी', 'राम मोहारिया', 'अलबत' आदि प्रांतीय और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी किया है। ये बातें उनकी कहानियों में अधिक पाई जाती हैं। भारतीय संस्कृति के प्रचारक होने के साथ-साथ रायसाहब हिंदी की शुद्धता के भी पक्षपाती हैं। यहाँ तक कि उन्होंने उर्दू मुहावरों को भी हिंदी रूप देने का प्रयत्न किया है; यथा, 'दिल का छोटा है' के स्थान पर 'हृदय से लघुता है।' इस प्रयत्न का प्रधान कारण उनकी रुचि है। इस संबन्ध में इतना कहना अनुचित न होगा कि ऐसा प्रयत्न प्रायः सरलता से सफल नहीं होता और नए प्रयोग पूर्व प्रचलित के समान सशक्त तो हो ही नहीं सकते।

हिन्दी साहित्य का

छात्रोपयोगी इतिहास

हमारे गद्य निर्माता

पर कुछ सम्मतियां—

इस पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ देखिए:—

१—हिन्दी के जिन गद्य-निर्माताओं को लेखक ने चुना है वे सर्वमान्य हैं। अतः यह पुस्तक हिन्दी-गद्य के विद्यार्थियों के लिए गद्य-लेखकों की शैली के अध्ययन में सहायक होगी।.........शैली का प्रश्न बड़ा जटिल है......तब भी लेखक ने शैलियों का अच्छा विश्लेषण किया है।

—साहित्य-सन्देश

२—पुस्तक मैंने पढ़ी। बड़े परिश्रम और खोज के साथ लिखी गई है। उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण है। मुझे, आशा ही नहीं, विश्वास है कि यह पुस्तक समादर प्राप्त करेगी और इसका अधिकाधिक प्रचार होगा।

—श्रीरूपनारायण पाण्डेय
"माधुरी" सम्पादक

३—शैली बताने के लिए प्रत्येक लेखक के विविध नमूने भी दिए गए हैं जिनसे विविध महारथियों की शैली का परिचय हो जाता है। लेखक का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

—जीवन साहित्य

४—विद्यार्थियों के लिए पुस्तक उपादेय है। लेखक ने जो श्रम ग्रन्थ-निर्माण में किया है, वह सराहनीय है।

—श्रीब्रजकिशोर मिश्र, एम० ए
लखनऊ

पुस्तक के प्रकाशक—
गयाप्रसाद एण्ड संस
शफाखाना रोड, आगरा

आलोचना व निबन्ध
हमारा प्रकाशन—

१. छह एकांकी नाटक—(भूमिका सहित) सम्पादक श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव एम० ए० साहित्यरत्न १॥)
२. एकांकी नाटक—(हिन्दी के प्रमुख कलाकारों के एकांकी नाटकों का संग्रह) भूमिका सहित सम्पादक श्री अमरनाथ गुप्त, एम० ए० २)
३. मर्यादा का मूल्य—(मौलिक और ऐतिहासिक नाटक) ले० कुँवर वीरेन्द्रसिंह, सम्पादक श्री रामकृष्ण शुक्ल, एम० ए० १॥)
४. नल दमयन्ती नाटक— ॥)
५. नाटक निकुंज—ले० अध्यापक जगेन्द्र १)
६. नाटक नवरत्न—ले० हरदयालुसिंह १)
७. भास ग्रन्थावली—ले० हरदयालुसिंह १)
८. नवाबी सनक—(हास्यरस की पुस्तक) ले० श्री 'नलिन' १)
९. कथा कुसुमांजलि—सम्पादक जैनेन्द्रकुमार तथा बा० गुलाबराय एम० ए० १॥)
१०. यादगार—(कहानी संग्रह) ले० रामचन्द्र श्रीवास्तव एम० ए० १)
११. अनुराधा—(कहानी संग्रह) ले० श्री सुशील १)
१२. पुण्य स्मृतियाँ—श्री प्रेमनारायण टंडन एम० ए० १)
१३. भारत की नदियाँ—ले० श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी० (प्रेस में) २)
१४. उर्दू साहित्य-परिचय—लेखक श्री पं० हरिशङ्कर शर्मा, कविरत्न (प्रेस में) ४)